THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180261

UNIVERSAL
LIBRARY

मार्च, १९३६
डेढ़ रुपया

मुद्रक
श्री रामकिशोर मिश्र

आधुनिक हिन्दी- ार एवं आलोचक

'समुद्र ... धरण्यंण हिमवानिव'

विद्वद्वर

श्री नलिनविलोचन शर्मा

को

कर-कमलों में

सादर-सप्रेम समर्पित

प्रस्तावना

काव्य-समीक्षा की विस्तृत परिधि में कलात्मक सौष्ठव के विश्लेषण से लेकर मानव-जीवन या मानव-समाज की पृष्ठभूमि में उसका मूल्याङ्कन तक निहित-समाहित हो जाता है। समीक्षक की प्रक्रिया की, निश्चय ही, अपनी सीमाएँ होती हैं; तभी कोई लुकस (F. G. lucas) मनोवैज्ञानिक भूमिका में और कोई लुकस (Georze Lukacs) समाजवादी, यथार्थवादी भूमिका में साहित्य के तत्त्व का साक्षात्कार करता है। दार्शनिक दृष्टि से यह अखण्ड 'सृष्टि' के खण्ड-रूप का विवेचन कहा जा सकता है, क्योंकि सुन्दर-असुन्दर के तटस्थ विलगाव के प्रयत्नों के अतिरिक्त बौद्धिक प्रसार का तात्पर्य्य साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी परिवर्तित दृष्टि-कोण से भिन्न कुछ और भी हो सकता है। जीवन के अनुकरण या आलोचन के रूप में कला या साहित्य का माङ्गलिक तात्पर्य्य सौन्दर्य्यात्मक आवेष्टन का अतिक्रमण कर न ढूँढ़ा जाना चाहिए। सौन्दर्य्य काव्य का साधन मात्र नहीं, साध्य भी है, अवश्य ऐसा साधन-साध्य का सन्तुलन उच्चतम कोटि की कलाकृतियों में ही उपलब्ध होता है। असन्तुलन की स्थिति में तो गुदड़ी में लाल छिप जाता है; टाट पर रेशम की बँखिया दी जाती है।

व्यक्तिगत जीवन में मुझे पन्त, प्रसाद निराला के कृपापात्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। 'कामायनी' के प्रकाशन के बहुत पूर्व मुझे उसके कितने ही सर्ग स्वयं प्रसाद जी के श्रीमुख से सुनने का सुअवसर मिला था। 'राम की शक्तिपूजा' का क्लिष्टतम पूर्वार्द्ध निराला जी ने मेरे और कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के समक्ष, एक ही प्रवाह में लिख डाला था। निराला जी की देखा-देखी प्रसाद जी अट्ठारह, उन्नीस वर्ष के जानकीवल्लभ को जब-तब जिस सस्मित व्यङ्ग्य से 'आचार्य्य' सम्बोधित करते थे, वह क्या कभी भूला जा सकता है? किन्तु इस संक्षिप्त संस्मरण को मेरी विस्तृत साहित्यिक अभिज्ञता का प्रमाण न माना जाना चाहिए। मैं तो कुल मिलाकर सरोवर का मेढ़क-जैसा हूँ जो सद्योविकसित कमल की पंखड़ियों को हिला-झुलाकर भी उसके

रूप-रस-गन्ध-स्पर्श से असंपृक्त ही रहता है और जिसके लिए रसज्ञ मधुपों की मण्डली प्रात-पवन के सौरभ-सन्देश की प्रतीक्षा किए बिना ही दूर-सुदूर से गुनगुनाती चली आती है।

सो, 'त्रयी' में बारी-बारी से तीन समुद्रों के किनारे बैठ-बैठकर मैं लहरें ही गिनता रहा हूँ। मेरे साक्षात् तथा परम्परित ज्ञान की अभिव्यक्ति में कदाचित् ही कहीं उनकी उतराई हुई गहराइयों का भी आभास मिले। फिर भी मैं यह कह दूँ कि ये किनारे मेरी रुचि के विचरने के सबसे निभृत-निर्भय स्थल हैं। यहाँ मेरी वृत्तियाँ रमती हैं, मुझे सुख मिलता है।

कला या साहित्य के साधकों में मैं महान उसे ही मानता हूँ, जिसमें त्रिविध शक्तियाँ जागरित तथा अन्वित हों—जिसका तन मन से प्रेरित होता हो और मन आत्मा से; जिसका कर्म इच्छा से नियोजित हो और इच्छा ज्ञान से प्रणोदित; जिसकी भौतिकता दार्शनिकता से सुघटित हो और दार्शनिकता आध्यात्मिकता से आवेष्टित; जिसकी भावना कल्पना से व्यवस्थित हो और कल्पना अनुभूति से मर्य्यादित; जिसका सत्य शिव से अच्छादित हो और शिव सुन्दर से संचालित। चेतना के उन तीनों स्तरों पर अनुस्यूत भाव से सहज संचरण करने के कारण ही मेरी दृष्टि में उक्त त्रयी का महत्त्व है। अनात्म-साहित्य स्थायी नहीं होता।

जैसे ये निबन्ध वयस में पर्य्याप्त छोटे-बड़े हैं और इनकी आविर्भावक विभिन्न मनःस्थितियों की परिछाइयाँ आज इस संकलित प्रकाश में अधिक स्पष्टता से उभर आई हैं, वैसे ही सुस्पष्ट वर्ण-मात्राओं में मुद्रित इनकी अशुद्धियाँ भी। शुद्धिपत्र के बिना भी मैं आशा करूँगा कि स्वराज्य (पृ० १४) 'स्वाराज्य', पढ़ा जायगा, झंझार (पृ० ६४) 'झंझा', निगाह (पृ० ७५) 'निगह', याञ्चा (पृ० ८०) 'याच्ञा' और.....।

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन एवं यथासंभव निर्दोष मुद्रण के लिए बन्धुवर पं० शिवयोगी मिश्र एवं प्रिय कवि श्रीरञ्जन सूरिदेव का हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

वसंत-पंचमी, सं० २०१२
(महाकवि निराला की
हीरकजयन्ती)

—जानकीवल्लभ शास्त्री

अनुक्रम

१	प्रस्तावना	
२	प्रसाद का काव्य	१–१६
३	निराला की कविता	१७–४८
४	आधुनिक कवि पन्त	४९–६४
५	सत्यं, शिवं, सुन्दरम्	६५–८०

प्रसाद का काव्य

जीवन की, समग्रता में, उपलब्धि प्रसाद के काव्य की विशेषता है। जैसे भरी गागर नहीं छलकती, वैसे ही पूर्ण वाणी में उत्तेजना नहीं होती। वहाँ ईर्ष्या भक्ति में, घृणा श्रद्धा में और क्रोध शान्ति में परिणति प्राप्त कर लेते हैं।

यह ठीक है कि केवल अनुकूल भाव जीवन में गति नहीं उत्पन्न करते; उसे शक्त तथा वैचित्र्यपूर्ण नहीं बनाते हैं, अतः प्रतिकूल भावों के घात-प्रतिघात के विना काव्य में भी गति, दीप्ति तथा विविधता नहीं आ सकती; किन्तु इसके साथ ही यह भो ठीक है कि इच्छा और क्रिया के द्वन्द्व को विश्राम-धाम पर पहुँचाए विना, शान्ति-सुधा का पान कराए विना कवि-कर्म किसी भी प्रकार सहृदय-परिणति नहीं प्राप्त कर सकता। गति को आनन्द-कानन की हरित-श्याम छाया में विराम मिलना चाहिए; विप्लव-विक्षोभ की शक्त दीप्ति को चाँदनी की धुली हुई तृप्ति।

आधुनिक कविता लहरों पर तैरतो है, वह 'आपूर्य्यमाण, अचल-प्रतिष्ठ' समुद्र की महिमा नहीं स्वीकारती। परिणाम स्पष्ट है, उसकी शक्ति और सुन्दरता—दोनों वाचिक हैं; ऊपर ही ऊपर छलकती चलती हैं।

अन्तर्द्वन्द्वों एवं अन्तर्विरोधों का उद्घाटन महत् काव्य का प्रमुख प्रयोजन नहीं है, उनकी अन्विति से प्रवाहित होनेवाले सौन्दर्य्य-स्रोत से जगत् को आप्यायित करना ही कदाचित् उसका चरम ध्येय है।

हिन्दी में अभी तक भाषा की सरलता-क्लिष्टता को लेकर विवाद हुआ करता है; काव्य में घृणामूलक, नकारात्मक विचार-विक्षोभ को ओजस्वी बतलाया जाता है, ऐसे में प्रसाद का काव्य इससे अधिक क्या कह सकता है कि--

'तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन !'

किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि प्रसाद विषाद, विश्राम और वैराग्य के कवि हैं। नहीं, वह तो वासना और वैराग्य के समन्वय के, जीवन की सम्पूर्णता के, विराट् के स्रष्टा हैं। आशा हो या निराशा, हर्ष हो या विषाद--जीवन की सम्पूर्णता में वह उसे व्यक्त करते हैं; भोग और त्याग को जीवन-सरिता के दो कूलों की भाँति वह पृथक्-पृथक् नहीं प्रतिष्ठापित करते, प्रत्युत प्राणों की ऊष्मा को--मध्यदिन के तपन-ताप को, स्वतः, सन्ध्या की नील-लोहित झाँई-सी आत्मा की शान्त-सौम्य अनन्तता में तदाकार कर देते हैं।

यह समन्वय ऐसा सहज होता है जैसे क्रम-क्रम से पथ पार करता हुआ पंथी एक निश्चित लक्ष्य पर पहुँच गया हो !

अभिव्यक्ति की विविधता कला-पक्ष में भी एकरसता नहीं आने देती। वस्तुतः समरसता में एकरसता की सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि समरसता उषा-सी प्रत्येक उदय-काल में नवीन है। आत्मा की प्रत्येक विवृति नित्य-नूतन हुआ करती है। एकपक्षीय अतिरंजना के आग्रही जन चतुरस्र मर्यादा का निष्पक्ष मूल्यांकन नहीं करते; उनकी दृष्टि में प्रखर प्रवाह लक्ष्यहीन होकर भी काव्य का सर्वस्व हो सकता है। किन्तु जीवन के व्यक्त मध्य पर उसका दर्शन कदापि केन्द्रित नहीं हो सकता जो अव्यक्त आदि और अव्यक्त अन्त का भी चिन्तक है उसकी अव्यक्त की संकेतात्मक व्यक्ति रहस्य की आख्या ग्रहण कर लेती है, जब भी उसका इष्ट जीवन का वृहत्तर या सम्पूर्ण दर्शन मात्र होता है। प्रसाद का काव्य ऐसा ही है।

आँसू, लहर और कामायनी प्रसाद के प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ हैं, प्राथमिक प्रयास से उनके निश्चित भविष्य का यत्किञ्चित् ही आभास मिलता है। वह सहसा सप्तम सोपान पर नहीं पहुँच गए; प्रत्येक सोपान पर उनके पदक्षेप के चिह्न देखे जा सकते हैं। इन चिह्नों के निरखने-परखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—इन त्रिविध उपादानों से उनकी काव्य-सृष्टि क्रमशः स्वस्थ-सबल हुई, वह निराला के समान जन्मजात महाकवि नहीं थे। 'जुही की कली' की भाँति काव्य-प्रतिभा की प्रथम प्रसन्न प्रभा प्रसाद के प्राथमिक प्रयास में कहीं नहीं दीखती।

प्रसाद का जीवन-दर्शन शास्त्रीय ज्ञान के आलोक में ही इतना स्पष्ट और पुष्ट है। परम्परा के अनुशीलन से उनकी (वैयक्तिक) प्रतिभा निखरी थी। सांस्कृतिक ऐश्वर्य के विविध रूपों—धर्म, दर्शन, कला आदि—की गहरी अभिज्ञता से उनका साहित्य शीलवान् है। प्रतिभा और परम्परा का ऐसा संयोग विरल होता है जहाँ शास्त्र पर जीवन प्रतिष्ठित होता है; धर्म पर मानवता विजयिनी होती है और शक्ति के अन्तरिक्ष से करुणा-कादम्बिनी बरसती है। जीवन-दर्शन की स्पष्टता के कारण उनका काव्य एक निश्चित दिशा की ओर प्रवाहित होता है; उसके विविध भावों में एक अनुस्यूति की प्रतीति होती है।

समन्वय-भक्ति का तत्त्वचिन्तन से, ज्ञान का विज्ञान से, कामना का कर्म से और 'अहं' का 'इदम्' से—उनकी काव्य-साधना की सिद्धि है। यह ऐसा समन्वय ही उनके काव्य का दर्शन है।

दर्शन की गहनता कभी-कभी उन्हें काव्य की सीमा का अतिक्रमण करने को विवश करती है और वह सैद्धांतिक समीक्षा करते हुए अपने कवि से दार्शनिक को आगे बढ़ा देते हैं। कामायनी के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में यह विभेद सुस्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

कालिदास भी शैव थे;—दार्शनिक कवि थे। उनके कुमारसम्भव में भी यह विशेषता है। कुमारसम्भव के प्रथम और द्वितीय सर्ग एक ही स्वर्ण-लेखनी के चमत्कार हैं, सहसा विश्वास नहीं होता। कामायनी का पूर्वार्द्ध

कुमारसम्भव के स्तर का ही है। प्रसाद को 'आधुनिक हिन्दी' का कालिदास कहा जा सकता है।

उनकी काव्य-रचना का आरम्भ किस सन्-संवत् में हुआ और किस क्रम से उनके काव्य-ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ, इसका लेखा-जोखा लेना यहाँ अनावश्यक है। उनके काव्य का आरम्भ सौन्दर्य्यजनित कुतूहल से हुआ और उसकी परिणति कल्याण-मण्डित आनन्द की उपलब्धि में हुई है। आँसू, लहर और कामायनी का क्रमिक उत्कर्ष इसी स्थापना का समर्थक है।

'आँसू' 'कामायनी' की पूर्वपीठिका है। 'कामायनी' के प्रबन्ध-विस्तार का बीज उसमें भी धरती फोड़कर ऊपर उठता दिखता है। जिस प्रकार मनु के अतीत सुख की चिन्ता अनन्त में दुख की असंख्य रेखाएँ उगाती है, उसी प्रकार आँसू के कवि का अतीत-चिन्तन भी पीड़ा को घनीभूत करता है। किन्तु जिस प्रकार उस विश्व-वन की व्याली का विष अमृत बनता है——

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा, क्रिया ज्ञान मिल लय थे!
× × ×
समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर, साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था!

उसी प्रकार 'आँसू' की दंशहीन वेदना क्रमशः उन्नीत हो अकुण्ठित करुणा के स्वर से जीवन की पूर्णता को रस-सान्द्र बनाती है——

मानव - जीवन - वेदी पर
परिणय है विरह - मिलन का;
सुख - दुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का, मन का!
× × ×
चेतना - लहर न उठेगी,
जीवन - समुद्र थिर होगा;
सन्ध्या हो सर्ग - प्रलय की
विच्छेद - मिलन फिर होगा!

विरह-मिलन, सुख-दुःख के खण्ड सत्य को अखण्ड आनन्द की यह सहज उपलब्धि प्रसाद के काव्य की देन है। प्रकृति और मानव-प्रकृति का द्वन्द्व दिखलाना और बात है; प्रकृति पर मानव की वाह्य विजय का प्रदर्शन भी वैज्ञानिक सत्य के नाते सफल हो सकता है, पर प्रसाद की समरसता तो प्रकृति तथा मानव-प्रकृति का आत्मिक स्तर पर सम्पूर्ण मिलन है; शिव और शक्ति का सामञ्जस्य है जिससे परस्पर के विलयन से—'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।' निराशा से आशा की ओर और फिर आशा से आत्मोपलब्धि की ओर, अखण्ड आनन्द की ओर गत्यात्मक जीवन-साधना का यह ऐसा क्रमिक विकास ही प्रसाद के काव्य में निर्दिष्ट हुआ है।

पलायनवाद के निदर्शन में अनेकशः उद्धृत—

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक, धीरे - धीरे;
× × ×

श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से—
जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे !

ऐसे गीत में भी इसी अखण्डता का संकेत है । 'बीती विभावरी जाग री' की विहाग-रागिनी भैरवी की सजग चेतना में विवर्तित होती है । इसी प्रकार करुणा की नई अँगड़ाई और मलयानिल की परछाँई-सी चंचल लहर को वह केवल लहराने ही नहीं देना चाहते, उसे सार्थक होने के लिए दिशा-निर्देश भी करते हैं कि लघु-लघु लोल-लहर उठ-उठकर सूखे तट पर छिटके, छहरे ! वह उसके उठने, मचलने को कृतार्थ करना चाहते हैं--

तू भूल न री, पङ्कज-वन में,
जीवन के इस सूनेपन में—
ओ प्यार-पुलक से भरी, दुलक !
आ,चूम पुलिन के विरस अधर !!

प्यासे पुलिन को चूमकर लहर उसकी प्यास ही बढ़ाती, पर यहाँ तो विरस को सरस बनाने का अनुरोध है । विरसता और नीरसता एक ही नहीं है । विरस में निर्वेद, विषाद और वैराग्य का भाव है । लहर उसमें आनन्द स्पन्दित करती है । इसे पढ़ते समय पन्तजी के 'वीचि-विलास' की सहसा स्मृति हो आती है--

अरी सलिल की लोल हिलोर,
यह कैसा स्वर्गीय हुलास ?
सरिता का चञ्चल दृग कोर,
यह जग को अविदित उल्लास !

आ मेरे मृ अंग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर,
मेरे उर में भर मधु रोर!

पन्तजी की वीचि में माधुर्य्य है, जिसका उत्स उनकी कोमल कल्पना है; किन्तु प्रसादजी की लहर गम्भीर है; क्योंकि वह अगाध अनुभूति से उठी है। दोनों कविताओं के दर्शन में भी विभेद है। 'नौका–विहार' की भाँति इस 'वीचि-विलास' में भी पन्तजी ने शाश्वतिकता को अभिव्यक्त किया है और प्रसादजी ने अपनी लहर में समन्वय या समग्रता को।

उनके किसी भी गीत में यह केन्द्रीय भाव पुनः-पुनः परिलक्षित होता है। उनकी भावनाएँ, कल्पनाएँ और अनुभूतियाँ इसी के गिर्द मँडलाती हैं; इसी सत्य-बिन्दु के सहारे सुनहले वृत्त बनाती हैं––

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ?
इसमें क्या है धरा, सुनो;
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित—
मेरे क्षितिज, उदार बनो।

पन्तजी 'सन्ध्या-तारा' के लिए कहते हैं––

वह रे अनन्त का मुक्त मीन
अपने असंग सुख से विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर-नवीन
निष्कम्प शिखा-सा वह निरुपम
भेदता जगत जीवन का तम
वह शुद्ध; प्रबुद्ध, शुक्र वह सम।

अवश्य यह उपलब्धि की वाणी नहीं है। कवि ने उपमा-रूपक की भाषा में स्काइलार्क के सम्बन्ध में शेली

के समान, कुछ आध्यात्मिक कल्पनाएँ भर की हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि प्रसाद के दर्शन की भाँति पन्त का कवित्व प्राञ्जल है। पन्त 'सुन्दर जीवन' के शिल्पी हैं और प्रसाद 'जीवन-मङ्गल' के स्रष्टा। सत्य और सुन्दर के सहज सामञ्जस्य से मंगल की जीवन में प्रतिष्ठा करना उनका ध्येय था।

उपलब्धि और अभिज्ञता की वाणी में अन्तर होता है। प्रसाद अभिज्ञ न थे, ऐसा कौन कहेगा? उनके काव्य में, सांस्कृतिक आवेष्टन के रूप में, दार्शनिक विश्लेषण के रूप में, अभिज्ञता की शतशः पहचान मिलती है। किन्तु, ज्ञान के रूप में प्राप्ति एक बात है और स्वीकृति के रूप में उसकी उपलब्धि दूसरी। प्रसाद ज्ञानी ही नहीं, तन्मय भी थे, उनकी हार्दिकता अभिज्ञता को अभिभूत कर चुकी थी। वह रुचि की ही प्रतीति नहीं कराते, किन्तु उस 'शिवम्' को वाणी देते हैं, जिसका उनके साथ निविड़ सम्बन्ध था; जो उनके सन्तुलित व्यक्तित्व तथा विशुद्ध विवेक का केन्द्र-विन्दु बन चुका था और जो उनके लिए सर्वथा अपरिहार्य्य था। 'कामायनी' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

तर्क के द्वारा हम जिसकी प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध में हमारी अनुभूति नहीं के बराबर होती है। वेदों और उपनिषदों में जो आनन्द प्रकाशित हुआ है उसका आधार प्रत्यय है; तर्क नहीं। आनन्द तर्कातीत है, इसका अर्थ यही हो सकता है कि वह शुद्ध अनुभूति

का विषय है। अनुभूति सत्तात्मक हो हो सकती है; निषेधात्मक कदापि नहीं। कामायनी की 'श्रद्धा' आनन्द की अनुभूति की आख्या है। 'श्रद्धया विन्दतेऽमृतम्।' 'अमृत' की अनुभूति ही श्रद्धा है।

'अविद्या' से मृत्यु को पार कर 'विद्या' से अमृतत्व-प्राप्ति की बात उपनिषद् बताती है, इड़ा अविद्या है और श्रद्धा विद्या, जो आनन्द का साक्षात्कार करती-कराती है।

वस्तु-विज्ञान कार्य्य-कारण-परम्परा से परे नहीं हो सकता और आत्म ज्ञान आनन्द को प्रकाश का ठोस धरातल नहीं दे सकता, इस होड़ा-होड़ी में, इस परस्पर निरपेक्षता में, इस तनाव में जीवन को सम्पूर्ण रूप में पाने का कोई उपाय नहीं है। ऐसे में 'यस्तद्वेदोभयं सह' की सम्भावना नहीं है। उपनिषत्-काल में जो कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्ड में समन्वय स्थापित करने का सन्देश था, आज आत्मा और वस्तु में, ज्ञान और विज्ञान में प्रति-द्वन्द्विता छिड़ जाने पर, आवेष्टन बदल जाने पर, उसे कामायनी में नये स्वर से दुहराया गया है। संघर्ष पुराना है, समाधान भी। युग के परिवर्तित वातावरण ने उन (संघर्ष और समाधान) में नवीनता ला दी है।

आर्य्य-संस्कृति की परम्परा के सहृदय अनुशीलन ने प्रसाद की वाणी को ऐसा मर्य्यादित कर दिया था कि भाव और भाषा की मार-काट के इस युग में भी वह 'समरसता' द्वारा मानवता की विजय का मंगल उद्घोष कर

गए। आज जब उत्तेजित, हिंसक और अशान्त स्वर में शान्ति-पाठ किया जाता है; ऐसे कर्कश शब्दों में शान्त रहने के लिए अनुरोध किया जाता है, जिन्हें सुनकर धीर-गम्भीर व्यक्ति भी आ-पाद-मस्तक जल उठे, तब जीवन की कामना, ज्ञान और कर्म के समुच्चय से सम्पूर्ण बनाने के लिए प्रसादजी ही उद्बोधित कर सकते थे। व्याख्या के क्रम में हम चाहें तो कह सकते हैं कि समस्त वस्तु-विज्ञान से आक्रान्त यन्त्र-युग का चित्र—

श्रमभय कोलाहल, पीड़नमय
विकल प्रवर्तन महायन्त्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है,
प्राण दास हैं क्रिया-तन्त्र का!

—के रूप में प्रसाद जी ने प्रस्तुत किया है! इस यान्त्रिक यन्त्रणा से उन्मुक्ति का उपाय सुख-दुःख से उदासीनता नहीं है। क्रिया-कलाप के साथ इच्छाओं का योग जुटाए बिना जीवन का रस नहीं प्रकाशित हो सकता। अतः इच्छा और क्रिया का समन्वय अभिप्रेत है। इसी प्रकार जीवन-रस से वञ्चित ज्ञान का यह दैन्य—

अपना परिमित पात्र लिए ये
बूँद-बूँद वाले निर्झर से
माँग रहे हैं जीवन का रस
बैठ यहाँ पर अजर-अमर से!

× × ×

सामञ्जस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते हैं!

—भी प्यास, पीड़ा या असन्तुलन को मेटने में किसी भी प्रकार समर्थ नहीं है। इन तीनों की स्वकेन्द्रित अपूर्णता ही वर्तमान विक्षोभ के लिए उत्तरदायी है।

इस समन्वय साधना का रहस्य कदाचित् यह है कि वर्त्तमान बौद्धिक विभव का पराभव निश्चित है। यह एकाङ्गी विकास को विकलाङ्ग ही बनाए रहेगा। विष से विष का शमन या दमन होता रहे, यह नियति को इष्ट नहीं है। इस प्रकार वह अमृत को शब्द-शेष नहीं बनाना चाहती। यदि मानवता को अशेष निराशाओं और बाधाओं के बीच से बचकर आगे बढ़ना है, तो उसकी एक ही दिशा हो सकती है कि जीवन को आनन्द से वंचित न किया जाय और यह आनन्द तबतक उपलब्ध न होगा जबतक हमारी एकाङ्गिता न दूर होगी और हम इस एकाङ्गिता को भी तर्क के द्वारा नहीं दूर कर सकते, इसे आस्था के द्वारा ही दूर कर सकते हैं। यह आस्था इच्छा, कर्म और ज्ञान के ऐक्य की प्रेरणा भी है और परिणति भी।

वर्ग-युद्ध द्वारा आर्थिक स्वातन्त्र्य की सम्भावना है। किन्तु, इस प्रकार का स्वातन्त्र्य 'स्वराज्य' से कितनी समता रखता है? आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करना जीवन-रस प्राप्त करना नहीं है। टाल्सटाय का साहित्य 'स्व-राज्य' का साहित्य है और 'स्टालिन-पुरस्कार-प्राप्त' आधुनिक उपन्यास यान्त्रिक स्वातन्त्र्य या आर्थिक सुविधाओं के साहित्यिक चित्र हैं। जीवन-रस से ओत-प्रोत टाल्सटाय

अमर रहेगा और तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के ये चित्र क्रमशः धुँधले पड़ते जायँगे। क्योंकि, उनमें चेतना के उन्नततर स्तर की ओर संकेत नहीं है। यान्त्रिक समता पाकर भी मानवता का ऊर्ध्वमुख विकास सत् से सत् की ओर, ज्योति से ज्योति की ओर और अमृत से अमृत की ओर अग्रसर होने पर ही सम्भव है। इस राग-द्वेषात्मक चेतना के धरातल पर से तो विश्व की विषमता को दूर कर सकना अशक्य ही है। कामायनी मानवता को परिपूर्णता की दृष्टि, विकास का प्रकाश और उपलब्धि की वाणी देती है। युग की भौतिक समस्या को कामायनी के रूप में प्रसाद जी ने एक आध्यात्मिक समाधान दिया है।

× × ×

महत् साहित्य की कसौटी सार्वभौमिकता ही हो सकती है। देश और काल के आवेष्टन के प्रति प्रतिक्रियाओं में से सार्वदेशिक और सार्वकालिक तत्त्वों का आकलन महान् कलाकार ही कर पाता है। हिन्दी में पहले रामचरितमानस के कवि ने किया था, फिर कामायनी के प्रसादजी ने किया। अवश्य यहाँ यह उल्लिखित होना चाहिए कि विशुद्ध कवि की कोटि में न तुलसीदास को रखा जा सकता है और न प्रसाद को। इन दोनों ने काव्य को माध्यम बनाकर भक्ति, दर्शन या अध्यात्म की ही सरस व्याख्या की है।

कालिदास और रवीन्द्रनाथ— दोनों ही जीवन-रस के महाकवि हैं, जबकि प्रसाद जीवन के बड़े व्याख्याता। दार्शनिक कवि के रूप में इनका अपना स्थान है।

कालिदास और रवीन्द्रनाथ साहित्य की परम्परा में आ गए हैं, प्रसाद आ रहे हैं। यदि प्रसाद कालिदास की अमरता और रवीन्द्रनाथ की लोकप्रियता न प्राप्त कर सकें, तो इसका कारण इनका उन दोनों से अधिक मौलिक होना ही होगा, जैसी मौलिकता श्री अरविन्द में है।

कामायनी और सावित्री की तुलनात्मक समीक्षा के प्रसंग में इस मौलिकता की व्याख्या फिर करूँगा।

———

निराला की कविता

(१)

निराला की कविता पर बहुत कम लिखा गया है। इसलिए नहीं कि उनकी कृतियाँ विश्वविद्यालयों में अपेक्षाकृत कम पढ़ाई जाती हैं, अतः 'अनुभवी अध्यापकों' को 'वटुतोषिणी टीकाएँ' लिखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इसलिए भी नहीं कि 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः' की लोकोक्ति को एकमात्र उन्हीं पर चरितार्थ करने की कोई सामूहिक योजना बना ली गई है! प्रत्युत मेरी समझ से उसका कारण यह है कि निराला का असाधारण व्यक्तित्व, जो उनकी कला-कृतियों में बहुविध अभिव्यक्तियों से झाँकता रहा है, चौंधिया देनेवाली रोशनी के सबब झटपट पकड़ में नहीं आता; उनकी बहुरंगी जीवनानुभूतियों में इकरंगे जीवन-दर्शन का पता नहीं लगता। व्यवसायी आलोचकों को थोक पूँजी ही हाथ नहीं लगती, फिर वह वस्तुनिष्ठ आलोचना के खुदरे व्यापार में प्रवृत्त हों, तो कैसे?

अलबत्ता झुँझलाकर निषेधात्मक रूप में वैसे-वैसों ने बेरोक लेखनी दौड़ाई है। उनकी सांस्कृतिक भाषा को क्लिष्ट और कलात्मक अभिव्यक्तियों को दुरूह बताकर गर्दन झाड़ लेने में आगा-पीछा नहीं किया है। और, यह

सब कुछ ऐसे नाजी ढंग से, अधिकारपूर्वक किया है कि प्रतिक्रिया में स्थापित उस 'सच' को झुठला देना आसान नहीं रह गया है ।

अनेक 'वादी' आलोचकों ने आलोचना के ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्त बघारे हैं जिनके द्वारा उद्धृत निराला के अधिकांश पदों का वह अर्थ भी नहीं होता जिसे प्रमाण मानकर उन्होंने निराला को पाठ पढ़ाया है ! इससे सम्भवतः यही सिद्ध होता है कि निराला महान् हैं, ऐसे अनुल्लंघ्य महान् जिसे ठीक-ठीक नहीं मापा जा सकता । यों, प्रशान्त महासागर के तल से पल भर में विज्ञान ने कीचड़ निकाला और गौरीशंकर शिखर पर सतरंगा झण्डा भी गाड़ा ही है ।

अधिकारी विद्वानों ने कुछ प्रामाणिक विवेचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं और डाक्टर रामविलास शर्मा ने बड़े श्रम से 'निराला' नामक एक आलोचनात्मक पुस्तक भी लिखी है; परन्तु निराला की कविता के सांगोपांग अध्ययन के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है । 'निराला' पुस्तक ने तो कदाचित् यह भी प्रमाणित कर दिया है कि निराला को वादों में बाँध रखना साहित्यिक ईमानदारी का परिणाम नहीं हो सकता ।

मैं समझता हूँ, निराला की तथाकथित क्लिष्टता, दुरूहता किंवा जटिलता का रहस्य कहीं-न-कहीं 'वादी-विवादी' आलोचनाओं में भी अवश्य निहित है । निराला अपने तईं सम्भवतः वैसे नहीं । महान् हैं कि उन्हें हथेली

पर रखे हुए आँवले की तरह उलट-पुलटकर नहीं निरखा-परखा जा सकता।*

पूरे इक्कीस साल पहले सन् '३३ में श्री नलिनविलोचन शर्मा ने लिखा था—'निरालाजी जॉनसन की तरह कर्मठ और अध्यवसायी, लार्ड बाइरन-से उद्भट प्रत्यालोचक, कीट्स और टैगोर की तरह सु-कवि और टालसटाय, ह्यूगो और शा की तरह निर्भीक उत्क्रांतिकारी औपन्यासिक हैं।' और, अभी तीन वर्ष पहले सन् '५१ में उन्होंने लिखा—'हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में क्यों राजकीय स्वीकृति मिलनी चाहिए थी, इसके लिए अनेक तर्क उपस्थित किए गए और अन्ततः हिन्दी को ईप्सित मान्यता मिली भी। जो तर्क सर्वथा अकाट्य था उसे किसी हिन्दी-प्रेमी ने कभी गर्व के साथ उपस्थित किया. इसका ज्ञान इन पंक्तियों के लेखक को नहीं है। भारत की सभी आधुनिक भाषाओं के

---

* श्री नरेश ने 'काव्यानुशासन'-नामक निबन्ध में लिखा है:—

निराला की कविताएँ काव्य की संज्ञा की वास्तविक अधिकारिणी हैं। हिन्दी में अबतक कवि कहे जाने के हकदार एकमात्र वही हैं। उनका काव्य कितना निःसंग (डीपरसनलाइज्ड) है, यह इसी से स्पष्ट है कि उनके काव्य से अबतक भी इने-गिने व्यक्तियों ने ही आनन्द लिया है।

निराला के गीतों में एक विशेषता है—हर गीत की गहनता (इनटेंसिटी) महाकाव्य की है—'कैलासदर्शन' से 'कुकुरमुत्ता' तक में। उनके काव्य का एक-एक शब्द जीवन्त, प्राण-शक्ति से पूर्ण और सशक्त (भाइटल, फोर्सफुल) है। शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया गया हो कि उनकी शक्ति की सम्भावनाओं को अधिक-से-अधिक गृहीत (एक्सप्लायट) किया जा सके, केवल निराला में है।

—'साहित्य', वर्ष २, अंक २

जीवित कवियों में एकमात्र हिन्दी को ही 'निराला' का दावा करने का सौभाग्य है। इस महाकवि को पाकर कोई भी समृद्ध भाषा गौरवान्वित हो सकती है—यह दूसरी बात है कि इस महाकवि की भाषा बोलनेवाले जितने अगुणग्राहक हो सकते हैं उतने दूसरे नहीं। हमारी दृष्टि में यदि निराला-जैसा कवि हिंदी में नहीं लिखता होता, तो हिंदी राष्ट्रभाषा के सम्मानित पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती थी।'

'निराला के अध्ययन-सम्बन्धी कुछ प्राथमिक विवेचन'-शीर्षक विद्वत्तापूर्ण अँगरेजी निबन्ध में श्री दामोदर ठाकुर लिखते हैं—

पोएट्स बिल्ड द स्टैंडर्ड ऑफ देयर लैंग्वेज।

दैट इज व्हाइ परहैप्स नो कम्पेरिजन बिटिन हिन्दी पोएट्री बिल शो बेरी क्लियरली ह्वाट निराला हैज डन फौर द लैंग्वेज।

× × × ×

द नेशनलिज्म ऑफ ए पोएट इज नॉट ए पोलिटिशियस नेशनलिज्म। वी डू नॉट राइट नेशनल पोएट्री बाइ बीइंग ए नेशनलिस्ट एण्ड आलसो राइटिंग पोएट्री।

टु निराला हिज पोएम्स रिप्रेजेण्ट हिज लैंग्वेज एण्ड हिज कण्ट्री।

ह्वेन वी शैल अण्डरस्टैण्ड ह्वाट रौंसर्ड एण्ड डू बेली मेण्ट इन देयर टाइम बाई एल लस्ट्रेशन डी ला लैंगुआ फ्रैंकाइज, वी शैल अण्डरस्टैंड सम ऑफ द मेटाफर्स, ऐण्ड एक्सपीरियेंसेज ऑफ 'तेज' इन द पोएट्री ऑफ निराला।

दिस ब्रिलिएंस ऑफ निरालाज लैंग्वेज इज ए फुलफिलमेण्ट ऑफ द लैंग्वेज। बाइ हिज लाईट, बाइ हिज शार्पनेस ऐंड क्लैरिटी आफ

एप्रिसिएशन ऑफ लाइफ ऐंड लैंग्वेज वी मे गेट द क्लैरिफिकेशंस दैट वी सीक फ्रॉम लैंग्वेज।

निश्चय ही इस सबका यह तात्पर्य नहीं कि अपनी पैंतीस वर्षों की साहित्य-साधना में निराला ने समग्र महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय घटनाओं को छन्दोबद्ध कर दिया है जिससे उनके द्वारा राष्ट्र एवं राष्ट्रभाषा के साक्षात् गौरवान्वित होने की बात पानी की तरह साफ हो गई है! नहीं, यदि ऐसा होता, तब तो घटनाचक्र के पद्यकार को महान् कवि मानकर कोई अपना साहित्यिक अज्ञान प्रकट ही न करता! वादी आलोचक उनमें दो क्रांतिकारी युगों का प्रतिनिधित्व ही नहीं पाते! किंतु उनकी राष्ट्रीयता तो तेजस्विनी भाषा और उसकी जीवन्त काव्य-कला की परिधि के भीतर से ही पूरी प्रखरता के साथ प्रकाशित हुई है, उसने सस्ती नारेबाजी का रास्ता कहाँ अख्तियार किया है? श्री प्रभाकर माचवे के शब्दों में—'निराला की कविता में राष्ट्रीय भावधारा प्रत्यक्ष 'माइक्रोफोनी' या प्रचारात्मक 'झण्डावादी' या 'नारावादी' कविता बनकर नहीं आई। भारत के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक जीवन के; उसकी उथल-पुथल के, बहुत सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष प्रभाव-सूत्र निराला की रचना में विद्यमान हैं।.....प्रगतिशील कविताओं के वे सब कविताएँ बहुत उत्तम उदाहरण हैं जहाँ व्यापारिक शोषण का पर्दाफाश किया गया है; जहाँ अर्थशास्त्र के कठिन सिद्धान्त 'पाँचक' की दस पंक्तियों में 'काँग्रेस' कर रख दिए गए

हैं; जहाँ गतिरोध की भयानकता 'तारे गिनते रहे' में व्यक्त कर दी गई है; जहाँ मेढ़क और कुत्ते की प्रतीकात्मक सहायता लेकर किसानों की असहायता और विषमता पर निर्भय घनाघात है; जहाँ विशुद्ध नैचुरलिज्म है,—जैसे 'डिप्टी साहब आए' या 'महगू महगा रहा' में—जो कि समाजवादी यथार्थवाद से गर्भित है; या कि शुद्ध भावनात्मक चीजें हैं, जैसे आर० एस० पण्डित की प्रेतयात्रा और प्रेतदाह पर 'तिलांजलि', और 'खून की होली जो खेली' में विद्यार्थियों की आइ० एन० ए० के सम्बन्ध में गोलियाँ खाने पर भावोन्मेष! इन सब कविताओं में निराला ने मार्बिड मृत्यु-प्रेम नहीं दरसाया है, जो अक्सर राष्ट्रीय ध्वंसवादी कवि दिखाते हैं। उनकी स्वस्थ, परुष, कलाकार आत्मा सर्वत्र दहाड़ती है, 'हुइ-हुइ' कर विलाप नहीं करती।'

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी प्रकारांतर से उनकी असाधारण साहित्यिक मर्यादा को लक्ष्य किया है—'विद्रोह के स्वर में बोलनेवाले साहित्यकारों की इस युग में कमी नहीं है। पुरातन विधि-निषेध-व्यवस्था को खुली चुनौती देना आजकल की अति परिचित घटना है। सनातन समझी जानेवाली नैतिकता निस्सन्देह आज-कल सबसे प्रधान हंतव्य मानी जाने लगी है। किंतु इस प्रकार की चुनौती देनेवाले प्रायः संतुलन खो बैठते हैं; व्यवस्था का विरोध प्रायः ही उच्छृङ्खलता के द्वारा किया जाता है और सनातन समझी जानेवाली नैतिकता

का विरोधी ततोधिक सनातन मानी जानेवाली निर्मर्याद वाचालता का आश्रय लेता है ! किन्तु निराला के काव्य में इतना विद्रोह और ललकार होने पर भी उच्छृङ्खल और निर्मर्याद वाचालता नहीं आने पाई है। इसका कारण यह है कि निरालाजी को अपना लक्ष्य ठीक मालूम है। अच्छा डाक्टर रोग पर आक्रमण करता है, रोगी पर नहीं; और इसीलिए उसके सारे प्रयत्नों की एक सीमा होती है। यदि उसके प्रयत्न रोग को नष्ट करने के बाद रोगी को भी नष्ट करने लगें तो निस्सन्देह वह अवांछनीय डाक्टर है। निरालाजी के कठोर-से-कठोर आक्रमण भी मर्यादित हैं।'

संक्षेप में, आए दिन निराला के वास्तविक मूल्यांकन का कार्य, रचनात्मक आलोचनाओं के माध्यम से, नए सिरे से शुरू हो गया है, यह ऊपर के कतिपय नए निर्देशों से स्पष्ट हो जाता है। ज्यों-ज्यों निराला की कविता का मनन-मंथन होगा, त्यों-त्यों हिन्दी कविता की असीम शक्ति-सामर्थ्य ही उद्घाटित-उद्भासित होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

(२)

यों तो निराला की 'जुही की कली' का और मेरा जन्म एक ही साल हुआ था; किन्तु मेरा उससे प्रथम परिचय अट्ठारह वर्ष बाद हुआ। तब से अपनी ही आँखों निराला की कविता को देखता आ रहा हूँ। देखता आ रहा हूँ कि निराला की काव्य-प्रतिभा दल-पर-दल खोलती

हुई सम्पूर्ण अर्थ में शतदल हो चुकी है और अब वह सहस्रदल होने के क्रम में है। इधर के गीत आकृति में जितने छोटे हैं, प्रकृति में उतने ही बड़े। ऐसा प्रतीत होता है कि 'भाव जो छलके पदों पर, न हों हल्के, न हों नश्वर' की प्रार्थना सार्थक हो चुकी है।

इधर 'रचना की ऋजु बीन बनीं तुम, ऋतु के नयन नवीन बनीं तुम' से आरम्भ कर अबतक के गीत संगृहीत नहीं हुए हैं, एक 'अर्चना' आई है। अतः अभी आरम्भिक रचनाओं की भाँति इनका संकलन भी दुर्लभ होने के कारण निराला की कविता का अध्ययन क्रमशः परिमल, गीतिका, अनामिका, तुलसीदास, अणिमा, कुकुरमुत्ता, बेला, नये पत्ते और अर्चना द्वारा ही सम्भव है। यहाँ थोड़े में इन्हीं नवरत्नों की चर्चा का प्रयत्न किया जायगा।

'परिमल' सन् '३० में प्रकाशित हुआ था। पन्द्रह वर्ष पहले से खड़ी बोली की कविता जिस जीवन्त भाषा-शैली एवं भाव-विस्तार का संधान तथा निर्माण करती आ रही थी उसकी प्रथम प्रतिनिधि रचना न 'पल्लव' है और न 'आँसू', वह 'परिमल' ही है, यह इस परस्परप्रशंसी युग के समाप्त होते ही तटस्थ आलोचकों द्वारा उद्घोषित हो जायगा। डाक्टर भटनागर ने ठीक ही लिखा है—'आँसू' को अभिव्यंजना को कम लोग ठीक-ठीक समझ पाते थे। आज भी सब सरलता से उसे समझ नहीं पाते। 'पल्लव' में मूर्तिमत्ता (कल्पना) का अतिरेक इतना था, अँगरेजी रोमांटिक कवियों (विशेषकर 'शेली') की छाप

इतनी अधिक थी कि उस काव्य का हिन्दीपन बहुत-कुछ डूब गया था। निराला के 'परिमल' ने इस हिन्दीपन को अक्षुण्ण बनाये रखा। प्रसाद गुण, सीधी-सादी अभिव्यंजना, साधारण बोलचाल के ढंग पर वाक्य-विन्यास—ये हिन्दी के लिए नई चीजें थीं। १९३० के पाठकों और आलोचकों में विश्लेषणात्मक दृष्टि का अभाव था, इससे केवल कुछ रहस्यात्मक कविताओं के नाते 'निराला' को 'कठिन कवि', 'रहस्यवादी कवि' या 'दार्शनिक कवि' कहकर छुट्टी पा ली गई। परन्तु सच तो यह है कि पंत, प्रसाद और निराला—तीनों नये कवियों में निराला का काव्य ही अधिक विस्तृत भूमि पर खड़ा था। न वह प्रसाद की कविता की तरह अभिव्यंजनात्मक शैली के चक्कर में पड़ा था, न उसे पंत के 'पल्लव' की कविताओं की तरह उपमा-उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगानी थी।'

आज हिन्दी कविता में 'सचेष्ट सरलीकरण' की जैसी अद्‌भुत प्रक्रिया अपनाई जाने लगी है, चौंतीस वर्ष पहले निराला में उसका स्वस्थ, स्वाभाविक रूप देखते ही बनता है। भाषा का विकच बचपन जहाँ—

लाज ने पकड़ लिए हैं पैर,
करूँगी अब न बाग की सैर!

—जैसी पंक्तियों से प्रकट होता है, वहाँ उसकी स्वस्थ, गतिशील सुन्दरता का पता मिलता है—

हँसी के साथ आँसू को, विरह के साथ मिलन को, सौन्दर्य के साथ स्वास्थ्य को, मृत्यु के साथ मुक्ति को और आरम्भ के साथ परिणति को अन्वित कर निरखता-परखता है। जीवन की जिस पंकिल पगडंडी पर पल भर पग रखता है उसी पर अपनी अमिट छाप छोड़ देता है। काव्यगत चित्रण में रेखा के साथ रंग, रंग के साथ लय और लय के साथ स्वयं वही सुरीला हो गया है। गीतों के केन्द्र में अपने व्यक्तित्व को सुप्रतिष्ठित करने के क्रम में उसने चित्र और संगीत की रूढ़ि से निःसंग होकर आत्म-निरीक्षण किया है कि उसका स्वर निषाद में साफ है या गांधार में सधा; उसकी तड़ित्तूलिका जड़ प्रकृति को सजीव कर सकी है या सजीव सत्ता को सजग; उसका रूप-निर्माण सफल हुआ है या प्राण-प्रतिष्ठा समारोह-पूर्ण; उसकी कल्पना ओजस्विनी है या अनुभूति तेजस्विनी; उसकी वासना तीव्र है या साधना उग्र; वह गा सका है, रंग भर सका है या निर्माता भी है। अनेक ऐसे ही जाग्रत् क्षणों की बारीक पकड़ गीतिका के वर्ण-चमत्कार और भावोल्लास, ओज और माधुर्य, छन्द और संगीत की विविधता में वाणी पा गई है। फिर भी 'अविभक्तं विभक्तेषु' का अभिज्ञ गीतिका की केन्द्रीय दार्शनिकता को सहज ही लक्ष्य कर लेगा। आरम्भ में कवि ने 'नव नभ के नव विहगवृंद को नव पर, नव स्वर' देने की जो बह्वर्थक प्रार्थना की है, वह अन्तिम गीत में—'उड़ने को नभ को ताकें, उपवन की परियाँ आली' की तृप्ति से ही चरितार्थ हुई है।

'अनामिका' में 'परिमल' और 'गीतिका' की अपेक्षा निराला का और प्रौढ़-पुष्ट, और अधिक स्वस्थ-समर्थ रूप प्रकट हुआ है। निराला की सर्वतोमुखी प्रतिभा ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से काव्य की सामग्री का संकलन किया है। अतः छन्दों की मुक्ति के प्रवर्तन के साथ-साथ आधुनिक कविता के विषय-विस्तार की दृष्टि से भी उनका महत्त्व सर्वप्रथम 'परिमल' द्वारा अंकित हुआ, फिर 'गीतिका' ने विन्दु में सिन्धु समो देने की उनकी उदात्त शक्ति का अपरूप परिचय दिया और इस 'अनामिका' ने तो एक ही साथ (वीज-रूप में परिमल-काल से ही विद्यमान) उनकी उन त्रिविध प्रवृत्तियों को प्रकाशित किया जिनमें क्रमशः 'क्लासिकल' कलात्मक प्रौढ़ि, व्यंग्यात्मक सामर्थ्य और प्रगतिशील तत्त्वों का अद्‌भुत आकलन है। दूसरे शब्दों में 'अनामिका' में शक्ति और सौंदर्य की जैसी अन्योन्य-संसक्तता के दर्शन होते हैं वैसी, आधुनिक हिन्दी-काव्य में, पहले या अबतक और कहीं नहीं देखी गई।

'अनामिका' साधक कवि की सिद्धावस्था है। 'राम की शक्ति-पूजा' के-से स्वल्प आकार-प्रकार का, परम प्रौढ़ 'प्रबन्ध काव्य' विश्व की किसी भी भाषा में कभी नहीं लिखा गया। 'सरोज-स्मृति'-सी 'एलेजी' न 'ग्रे' की है और न 'आर्नल्ड' की। बाह्य तथा अन्तर्जगत् के द्वंद्वों, आलोड़नों से उन्मथित–तरंगायित, प्रसिद्धि से सिद्धि तक के क्रम की,—झकझोर देनेवाले व्यंग्य से स्तब्ध कर देनेवाली निस्तब्ध लब्धि तक की,—अभिव्यक्तियों से आत-प्रोत,

'वनबेला'-सी अतल के अतुल वास से भरी कविता बार-बार नहीं रची जाती।

'अनामिका' निराला का प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ है। इसमें छन्दों के नए-नए प्रकार के प्रस्तार में, विचारों की उच्चता में—सर्वत्र वह महान् कवि-कलाकार के रूप में प्रकट हुए हैं। कोरी भावुकता या भावोच्छ्वास से ऊपर—बहुत ऊपर उठे हुए कलासाधक की प्रौढ़ शैली और पुष्ट भावों का प्रवाह 'अनामिका' की अपनी विशेषता है। बड़ी-से-बड़ी कविता में भी जैसे कोई श्लथ-शिथिल पंक्ति ढूँढ़े नहीं मिल सकती वैसे ही यहाँ छोटी-से-छोटी रचना भी महत्ता में अनुपम प्रमाणित होगी। 'तोड़ती पत्थर' अथवा 'वे किसान की नई बहू की आँखें', 'बादल गरजो' या 'तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा'—ये सभी एक से बढ़कर एक हैं।

'ठूँठ' की भावाभिव्यंजकता इसी प्रकार की एक संस्कृत-कविता—

> कस्त्वं भोः ? कथयामि, दैवहतकं मां विद्धि शाखोटजं,
> वैराग्यादिव वक्षि, साधु विदितं, कस्मादिदं कथ्यते—
> वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते,
> नच्छायाऽपि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे।

—से तुलना करने पर अपनी श्रेष्ठता के पर्याप्त मार्मिक उपकरण प्रस्तुत कर देगी। उद्धृत पद्य में एक भुतहे पेड़ और बटोही की बातचीत है। बटोही पूछता है—'तुम कौन हो, जो ?'

'ठहरो, बताता हूँ,—मैं एक अभागा भुतहा पेड़ हूँ !'

'बड़ा ही कचोट-भरा जवाब देते हो तुम तो !'

'हाँ, भई, तुमने सही समझा ।'

'मगर ऐसा क्यों ?'

'बताता हूँ,--देखो न, यह इधर बाईं ओर जो एक बरगद का पेड़ दिखाई पड़ता है उसे बटोही हमेशा घेरे ही रहते हैं--कभी कोई इसके ठण्डे साए में सोया रहता है, कोई पकाता-खाता रहता है, कोई दोने बनाने के लिए पत्ते तोड़ता है; मतलब, सब-के-सब इसे चाहते हैं, और इधर एक मैं हूँ जो ठीक रास्ते पर पड़ता हूँ, पर और तो और--जिसे देखो, वही—मेरी छाँह तक बचाकर, कतराकर धीरे से निकल जाता है; अपने थककर चूर हुए बदन पर भी मेरा साया नहीं पड़ने देना चाहता ।

निराला का ठूँठ अपने में ऐसी व्यथा नहीं छिपाए हुए है । वह फक्कड़ है, मस्त है, उसे ललित लवंग-लताओं मे ईर्ष्या नहीं, वह कृतघ्नता सहकर व्यंग्य की एक बेधक मुसकान के साथ कहता है--

अब यह वसन्त से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष-सा,
कुसुम से काम के चलते नहीं हैं तीर !

'एजरा पाउण्ड' के 'द ट्री' या 'थ्रेनस' से तुलना के योग्य यह परिधि नहीं, फिर भी थ्रेनस की कुछ पंक्तियाँ यहाँ बरबस गगन-मन में घुमड़ने लगी हैं—

नो मोर फॉर अस द लिट्ल साइंग
नो मोर द विंड्स प्ले ट्विलाईट ट्रबुल अस

× × ×

नो मोर डिजायर फ्लाइएथ मी,
नो मोर फॉर अस द ट्रेम्बलिंग
एंट द मीटिंग ऑफ हैंड्स।

'केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ कर याद' की-सी निगूढ़ व्यञ्जना अवश्य इनमें कहीं नहीं है। वैसी व्यञ्जना का ईषत् आभास एक दूसरी कविता में मिलता है—

एंपटी आर द वेज ऑफ दिस लैंड ह्वेयर आयोन
वाक्ट वंस, एण्ड नाउ डज नॉट वाक
वट सीम्स लाइक ए पर्सन जस्ट गोन।
—'Ione, dead the long year'

'तुलसीदास' निराला की एक महान् कलाकृति है। 'राम की शक्तिपूजा' से इसकी समता उदात्तता तथा गाढ़-बन्धता के कारण ही प्रचलित हुई है। वैसे, मेरे विचार से, इनमें, रचनाकौशल तथा भावधारा-सम्बन्धी पर्याप्त वैषम्य है। 'राम की शक्तिपूजा' में पांडित्यपूर्ण ओजस्विनी भाषा का सुघटित छंद के भीतर से सुसंयत प्रवाह तथा असाधारण भावगरिमा विद्यमान है जिस कारण वह पाश्चात्य 'एपिक' का सान्निध्य प्राप्त करती है। पौराणिक आख्यान के आधार पर रचित तथा सांकेतिक व्यंजनाओं से ओत-प्रोत होकर भी वह विशिष्ट मनोभूमि पर घटित होनेवाले चारित्रिक घात-प्रतिघातों की सजीवता के कारण महाकाव्य-सी महार्घ है। किन्तु 'तुलसीदास' तो इतिहास, समाज, राजनीति, दर्शन तथा मनोविज्ञान के ताने-बाने से बुना हुआ एक ऐसा सांस्कृतिक खण्डकाव्य है जो मेघदूत

की श्रेणी को कलात्मक वहुमूल्यता का अधिकारी है। स्वल्प परिधि में ही, कल्पनाओं की मांसलता, विचारों की प्रौढ़ता, द्वन्द्वात्मक भावनाओं की नाटकीय उच्चावचता तथा कलात्मक कसावट की दृष्टि से वह 'कामायनी' से अधिक सफल काव्य है, यह मेरा सुदृढ़ विचार है।

छायावादी युग में 'तुलसीदास' का जन्म उस युग को अमरत्व प्रदान करने के लिए ही हुआ होगा। अभी तक छायावाद का अर्थ हवाई कल्पना समझनेवालों को चाहिए कि वह निराला की कविता—विशेषकर 'तुलसीदास' के जोड़-तोड़ की कोई दूसरी कलाकृति आधुनिक हिन्दी-काव्य से दें। कामायनी का नाम लेने से काम नहीं चलेगा। कामायनी की महत्ता उसकी प्रशंसा करने की परिपाटी में से नहीं प्रकट होती। मैं मधुमयी भाषा और समरसता के सिद्धांत पर उद्धरण-प्रचुर, बहुज्ञता की विज्ञापिका, नीरस व्याख्यानमाला की अपेक्षा नहीं करता। यह कहता हूँ कि उस विराट् पट पर अंकित चलचित्रों से तुलसीदास की चित्ररेखाएँ कहीं अधिक पुष्ट और प्रदीप्त हैं। 'कामायनी' की मधुमादकता में जहाँ काव्य का सम्पूर्ण वातावरण झीमता रहा है, वहाँ 'तुलसीदास' की पौरुष-प्रगल्भ तेजस्विता से काव्य की पंक्ति-पंक्ति में गत्यात्मकता और प्रबुद्धता बनी रही है। कामायनी के कलस्वन वंश से तुलसीदास का धमकता हुआ मृदंग नहीं तुलित हो सकता।

कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में संचारिणी पल्लविनी लता-सी उमा की छविच्छटा का अंकन कालिदास की

कनक-तूलिका का अतुल चमत्कार समझा जाता है। वस्तुतः अकलुष सौन्दर्य की पावन मादकता की उससे ऊँची सृष्टि अबतक नहीं देखी गई; किन्तु भाव-व्यञ्जना में उतनी ही गम्भीर, अपर प्रकार की एक नारी-मूर्ति तुलसीदास में अंकित हुई है—

देखा, शारदा नीलवसना
हैं सम्मुख स्वयं सृष्टिरशना
जीवन-सर्मार-शुचि-निःश्वसना, वरदात्री,
वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर
फूटीं तर अमृताक्षर-निर्झर,
यह विश्व हंस, हैं चरण-कमल जिस पर श्री!

मैं समझता हूँ, यह वैदिक उषा-सी विश्व-व्यापक पावन ज्योतिःप्रतिमा है। तुलसीदास पर शेली की वह सम्मति मान्य हो सकती है जो उसने कीट्स के 'हाइपीरियन' को 'पैरेडाइज लॉस्ट' से भी श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए दी थी—इफ हाइपीरियन बी नोट ग्रेंड पोएट्री, नन हैज बीन प्रोडीउस्ड बाई आवर कन्टेम्प्रेरी। मैं तुलसीदास के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कुछ कहना चाहता हूँ कि यदि 'तुलसीदास' महान् काव्य नहीं है तो दूसरा उस युग में और नहीं रचा गया।

'परिमल' में कसाव के साथ-साथ खुलाव भी था। हर रंग के डोरे उसके ताने-बाने में थे फिर भी 'चदरिया' झीनी-झीनी बीनी गई थी। और 'गीतिका' में रंग उभरा-गहराया, बुनाई घनी-गाढ़ी, फिर भी जैसे ढाके का साठ गज मलमल कि कत्ताँरी लुनाई छिपाए न छिपे।

'अनामिका' में परिमल और गीतिका के वस्तु-विस्तार तथा रचना-कौशल का मिश्र विकास दिखता है। 'तुलसी-दास' 'राम की शक्तिपूजा' से बहुत पहले रचित होकर भी बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ, अतः 'अनामिका' की महाकाव्य-सी गहन कतिपय कविताओं में ही उसकी शैली और जीवन के आवेग की छिटफुट छाप देखी जानी चाहिए।

इस प्रकार निराला की कविता की सुनहली तरुनाई 'परिमल' से 'तुलसीदास' तक रूप-रस-गन्ध की पर्तों पर पर्तें बिछाती गई। 'अणिमा' में पहली बार उसे वह आभरण उतारते देखा गया, परिमल के वनफूलों के शृङ्गार को पतझड़ के अल्हड़ झोंके की तरह तोड़कर गीतिका-गायन-काल से ही जिसे ससंभ्रम धारण कर रक्खा था। 'परिमल' यदि निराला का एकमात्र धरातल होता तो 'अणिमा' उसीको प्राकृतिकता कहलाती।

'अणिमा' के गीत उज्ज्वल जल-भरे बादल-से इकहरे कजरारे हैं। ऐसे कि किसी जलपरी की छिंगुनी से छू जाने पर भी अनास्वादित रस बरस पड़े! व्यावहारिक, घरेलूपन लिए, चार बरस की बिटिया की आँसुओं से डलबल आँखों-सी सरल-सजल भाषा; स्वर-सौन्दर्य्य से अतिशय श्रुति-मधुर गीत 'अणिमा' की बहिरङ्ग विशेषता है। इसमें 'तुमसे चल तुममें ही पहुँचे, जितने रस आनन्द रहे'—ऐसी उपलब्धि है; 'तुम्हें सुनाने को मैंने भी नहीं कहीं कम गाने गाए'—जैसी दृप्त तृप्ति है। 'जानता हूँ,

नदी, झरने, जो मुझे थे पार करने, कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख कोई नहीं भेला' की भाँति अखण्ड आत्म-विश्वास है; 'द्रुम-दल-शोभी फुल्ल नयन ये, जीवन के मधु-गन्ध-चयन ये' के समान स्वस्थ-सन्तुलित शृङ्गार है; 'हरे तन-मन प्रीति-पावन, मधुर हो मुख मनोभावन; सहज चितवन पर तरङ्गित हो तुम्हारी किरण तरुणा' के तुल्य आर्द्र करुणा है और 'दूर हो अभिमान संशय, वर्ण आश्रम-गत महाभय; जातिजीवन हो निरामय, वह सदाशयता प्रखर दे'—ऐसी जातीय सदाशयता है ।

आलोचकों को शिकायत है कि 'अणिमा' में निराला का मौसम सम पर है; प्रतिभा का फेनोज्ज्वल ज्वार उतार पर है—वह रैदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रति भी प्रणत हो उठे हैं ! सचमुच ही बिजली की कड़क और बादलों की तड़क-भड़क से क्वाँर की मादनी चाँदनी में नहाए आकाश की छवि और होती है; धुँए के भभाकों में खोई लपटों से दहकते अङ्गारे दूसरी तरह के होते हैं, आमूल मुकुलिता माधवी की बेल से पदतल पर बिछे फूलोंवाले हरसिंगार के झाड़ में अन्तर होता है । सचमुच ही 'अणिमा' से निराला की कविता नए मोड़ लेती है ।

नए मोड़ लेती है—'जैसे युगान्त' से पन्त की कविता । इसमें अतीत का सिंहावलोकन है; वर्तमान की धुंध और भविष्य का प्रकाश भी । अपनी आवृत्ति भी निराला ने नहीं की, अतः युग-सन्धि के रन्ध्र से छनकर आनेवाली किरणों को सँजो-समो सकने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी

है। यहाँ से हिन्दी-कविता को नई भाषा, नई शैली मिली है:—

चूँकि यहाँ दाना है
इसीलिए दीन है, दीवाना है।
लोग हैं, महफिल है
नग्मे हैं, साज हैं, दिलदार है और दिल है,
शम्मा है, परवाना है
चूँकि यहाँ दाना है।

प्रकृति-चित्रण में ऐसा यथार्थ—

भरा हुआ तालाब,
खेलती हैं मछलियाँ
पानी की सतह पर
पूँछ पटकती हुई।
× × ×
जलाशय के किनारे कुहरी थी,
हरे नीले पत्तों का घेरा था,
पानी पर आम की डाल आई हुई,
गहरे अँधेरे का डेरा था।

निराला की कविता में ही नहीं, हिन्दी-कविता में पहली बार प्राप्त हुआ। आगे चलकर ग्राम्या में पन्त ने 'वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार?' लिखा, पर यह निरलंकारता अपने में अप्रतिम रही।

यों तो कब न निराला ने नए-नए बीज बोए, पर परती पड़ी जमीन के गोड़ते, खाद देते जाने के सबब अब पौदे उग-उगकर लहराने को मचलने लगे थे। देव-दुर्लभ मानवता रक्त-मज्जावाले आदमी की सूरत में ढल चली थी, हृदय के अमृत में आँसू,

पसीने और खून की सर्दी-गर्मी भी घुलने लगी थी। और निराला ने कुकरमुत्ता, बेला, और नए पत्ते में धरातल बदल दिया। नई जिंदगी के पाँव के नीचे की जमीन टटोलते और अपनी नई कविता के लिए नए प्रतीक और प्रतिमान गढ़ते हुए निराला ने यह गुर पा लिया था—

'स्वार्थ के अवगुण्ठनों से हुआ है लुण्ठन हमारा !'

× × ×

'जमींदार की बनी, महाजन धनी हुए हैं;
जग के मृत पिशाच–धूत-गण गनी हुए हैं !'

× × ×

'खुला भेद, विजयी कहाये हुए जो,
लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं !'

हर सरगाह में आदमी के खून के फव्वारे आकाश-गङ्गा-संगम के लिए जैसे अविच्छिन्न ऊर्ध्वमुख हो रहे थे; धुँधलका रक्ताक्त धरती का काले रंग का बुर्का हो रहा था जिसके भीतर से करुण-कातर नयन मटमैली बूँदे उगल रहे थे और निराला नई कविता सिरज रहे थे—

विशेषता के गले नीच की छुरी जो चली,
गुलाब जैसा खिला, रक्तिमाभ शान हुई !

× × ×

सफाई कट गई है चाँद की भी,
जुही के उसने जो जोबन टटोले;
गई पत देवता—पति की, कि उसने,
प्रिया मीरा को विष के घूँट घोले !

× × ×

जमाने की रफ्तार में कैसा तूफाँ,
मरे जा रहे हैं, जिये जा रहे हैं !

× × ×

जिन्होंने ठोकरें खाईं गरीबी में पड़े, उनके
हजारों-हा हजारों हाथ के उठते समर देखें।
गगन की ताकतें सोईं, जहाँ की हसरतें सोईं,
निकलते प्राण बुलबुल के बगीचे में अगर देखें।

निराला की विविध वृत्तियों का मोटे तौर पर वर्गीकरण करना हो तो पहले हम उन्हें दो वर्गों में बाँट लें—आत्म-निष्ठ वृत्तियाँ और समाज-निष्ठ वृत्तियाँ। उनकी काव्य-साधना में यह द्विविधता प्रारम्भ से ही प्राप्त होती है। परिमल की दीन, भिक्षुक, विधवा, बादल आदि कविताएँ जैसी हैं, वैसी गीतिका में भी हैं, अनामिका तुलसीदास और अणिमा में भी। इसी प्रकार बेला और नये पत्ते में भी उनकी रहस्यवादी प्रवृत्ति नहीं छूटी है। यह रहस्य-दर्शन और समाज-चेतना कवि के एक ही उत्स की दो धाराएँ हैं। वह उत्स है मानवता से अपार प्यार। वह मानवता के उन्नयन के लिए भूमि और आकाश—दोनों का सहारा लेता है। यह सच है कि १९१६ से ४० तक की रचनाओं में आत्मनिष्ठ वृत्तियाँ मुखर हुई हैं और ४० से अब तक की रचनाओं में सामाजिक प्रवृत्तियाँ। किन्तु उन्होंने पंचवर्षीय अथवा पंचसूत्रीय योजना बनाकर ऐसी विभक्त वृत्तियाँ कदापि व्यक्त नहीं की हैं। यह उनकी सहज वृत्ति-व्यक्ति है। युद्ध की पृष्ठभूमि में कहा जाय तो यह कहना होगा कि प्रथम महायुद्ध ने उन्हें दार्शनिक दृष्टि दी थी और द्वितीय ने सामाजिक दृष्टिकोण। यह आत्म-विरोध नहीं, वृत्ति-

समुच्चय है। मानवता को केन्द्रित कर जड़-चेतनवादों का कण्ठाश्लेष है।

पराजय और पलायन के चिह्न निराला में नहीं हैं, इसका कारण पहले अपने ऊपर अखण्ड विश्वास, फिर जनता की शक्तियों पर अटूट आस्था ही है। परिस्थितियों से घबरा कर भागो नहीं, उनका, उलटकर, मुकाबला करो, निराला की कविता में यह भाव सर्वत्र व्याप्त है—

'खींचे दृगों नभ से झरता नहीं शिशिर-कण;
तेल, आँच जब न खाया, निकला कब आँखले से ?'

× × ×

'आँख से आँख मिलाओ, उनका डर छोड़ो !'

× × ×

'राह पर बैठे, उन्हें आबाद तू जब तक न कर,
चैन मत ले, गैर को बरबाद तू जब तक न कर।'

'पास ही रे हीरे की खान' आदि दार्शनिक गीत भी ऐसे ही हैं। इसी प्रकार वर्तमान वैज्ञानिक युग का युद्ध-चित्र प्रस्तुत करते हुए निराला ने जहाँ भौतिकवाद के अमङ्गल स्वरूप पर प्रकाश डाला है* वहाँ भी उनका दृष्टकोण

---

*आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर
स्पष्ट दिख रहा, सुख के लिए खिलौने जैसे
बने हुए वैज्ञानिक साधन, केवल पैसे
आज लक्ष्य में मानव के, जल, स्थल, अम्बर
रेल-तार-बिजली, जहाज नभयानों में भर
दर्प कर रहे हैं मानव, वर्ग से वर्गगण,
भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विचक्षण।

— अणिमा : भगवान् बुद्ध के प्रति

प्रतिक्रियावादी नहीं है अन्यथा 'रोक रहजन को प्रगति का, फेर से, बाधक जो है, दरबदर भटका उसे, मर्याद तू जब तक न कर,' वह क्यों लिखते ? इसलिए यहाँ श्री विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के शब्दों को दुहराना आवश्यक है । इनसे आपाततः परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाले निराला के अनेक स्तरों का सामंजस्य संकेतित होता है:--निराला जी पर विवेकानन्द जी द्वारा लिए वेदान्त के उपनिषद्-आधार का प्रभाव अधिक है, शंकर का कम, क्योंकि उनका ज्ञान ज्ञान के लिए उतना नहीं है जितना समाज के लिए है, शंकर में निरपेक्षतावाद अधिक है जबकि निराला में ज्ञान की सापेक्षता अधिक पाई जाती है । शाश्वत ब्रह्म-आत्मा की अनुभूति अस्थिर मायामय जगत् के विरुद्ध नहीं पड़ती है और जब मानवता की मुक्ति का अन्तर्नाद कवि में प्रबल हो जाता है तो वह अपने सबसे बड़े प्रलोभन अपवर्ग और अधिवास को भी छोड़ने के लिए प्रस्तुत हो जाता है, यद्यपि उसका विश्वास यही है कि मनुष्य का चरम लक्ष्य नदी के समान उसी चेतना-सागर में मिल जाना है, ताकि पुनः इन बन्धनों में न पड़ना पड़े । अर्थात् कवि जन्ममरण के बन्धनों से मिलनेवाली मुक्ति को टाल सकता है, किन्तु जन-जीवन की विषमता, पीड़ा, दुःख, दीनता को सहन नहीं कर सकता ।

इसीलिए निराला अद्वैतवादी भी हैं, द्वैतवादी भी; भक्त भी और ज्ञानी भी; पुनरुत्थानवादी भी और क्रान्तिकारी भी, लौह-प्रहार तथा ललकार भी और आत्म-परमात्म-

मिलन की मधुर झंकार भी। वह वैयक्तिक अनुभूतियों के स्वर्ग में विचरनेवाला मुक्त विहग भी है और पतनोन्मुख रूढ़िप्रिय संस्कृति की विहग-बालिका के लिए भयंकर बाज भी; उसमें लौकिक प्रेम की ललक भी है और आध्यात्मिक भूमि पर अनुभूति की आत्मपुलक भी; निराला विरोधों का स्वयं सामञ्जस्य और सामञ्जस्यों का विरोध है। अतः अन्य विरोधों को देखकर जो समझते हैं कि निराला किसी एक विचार-दर्शन का कवि नहीं—एक निश्चित विचार-सरणि का स्रष्टा नहीं, वे सोचने से इन्कार करते हैं।

काल-क्रम से 'कुकुरमुत्ता' का प्रकाशन 'अणिमा' से पहले हुआ था। आज तक की निराला की काव्य-साधना को यदि तीन भागों में विभक्त करें तो 'जुही की कली' से प्रथम भाग का प्रारम्भ माना जायगा; 'कुकुरमुत्ता' से द्वितीय भाग का; अर्चना से तृतीय भाग का। इस समय तक भाषा और भाव के क्षेत्र में विश्व-साहित्य में नई-नई उत्क्रान्तियाँ होने लगी थीं। प्रबुद्ध निराला का काव्य भला कैसे अछूता रह जाता। प्राचीन संस्कारों की दीवारें ढहकर 'कुकुरमुत्ता' में समतल बन गई हैं। वेला और नए पत्ते में कवि का जो जनवादी रूप प्रकट हुआ है, उसे आँकने के लिए 'कुकुरमुत्ता' को परिपाटी की पाटी धो-पोंछकर साफ करनी पड़ी है। 'कुकुरमुत्ता असंस्कृत सामान्य का प्रतीक है जो अपने चारों ओर के स्वाभाविक प्राकृत वातावरण

से बल लेकर विकास को प्राप्त होता है। कुकुरमुत्ते की कलम नहीं लगती, वह उगाया नहीं जाता। इसी तरह सामान्य मानवता स्वतः विकसित चीज है। वह नकद है उधार नहीं।'†

'कुकुरमुत्ता को निराला जी ने दीन-हीन शोषित जनता का प्रतीक माना है और गुलाब को शोषक अभिजात वर्ग का। इस रूपक में परम्परागत भाषा, संगीत, उपमाएँ, शब्दचित्र आदि सब विलीन हो गए हैं और एक नई कला का जन्म हुआ है। यह कला कुकुरमुत्ता के ही समान बंजर धरती की उपज है, इसमें रूप, रस, गन्ध आदि की कमी है, यह भावों की सुकुमारता से नहीं गुदगुदाती, पाठकों को सोचने के लिए विवश करती है। 'कुकुरमुत्ता' के समान ही उसकी एक सामाजिक उपादेयता है।'‡

'कुकुरमुत्ता' के व्यंग्य के व्याख्याकारों में ऐकमत्य नहीं है। एक विविधता मैंने भी जोड़ दी है। मैंने 'मित्र के प्रति' कविता का ही दूसरा रूप 'कुकुरमुत्ता' को बताया है। तदनुसार 'कुकुरमुत्ता' स्वयं कवि का प्रतीक सिद्ध होता है। 'कुकुरमुत्ता' आधुनिक हिन्दी की एक ऐतिहासिक (मूल्य रखनेवाली) कविता है।

'बेला' के आधे गीत गीतिका की शैली और कोटि के हैं। अवश्य इनमें गीतिका का रस नहीं है। रहस्यानुभूति अधिक दुरूह हो गई है जिसका अर्थ यह है कि कवि

† डा० भटनागर।
‡ प्रकाशचन्द्र गुप्त।

की मानसिक ग्रन्थियाँ क्रमशः जटिल होती गई हैं; किन्तु शेष आधे गीतों (गजलों) में, इसके विपरीत, प्राञ्जलता अधिक है जब भी ये नए गढ़न की चीजें हैं—व्यंग्यों की चुभन, अभिव्यक्तियों का नुकीलापन, अलग-अलग बहरों की गजलों में मुहावरेदार भाषा का प्रयोग, सब कुछ नवीनता लिए हुए।

'बेला' में परिमार्जना दिखती है, 'कुकुरमुत्ता' का अनगढ़पन यहाँ नहीं। निराला के सफलतम गीतों में से कुछेक—

रूप की धारा के उस पार कभी धँसने भी दोगे मुझे ?

× × ×

कैसे गाते हो ? मेरे प्राणों में आते हो, जाते हो !

× × ×

हँसी के तार के होते हैं ये बहार के दिन !

'बेला' की ही देन हैं। ऐसे ही सन् '४२ की जनता की कुण्ठाओं का चित्रण कजली और लोकगीतों की तर्ज में अत्यधिक प्रभावोत्पादक हुआ है। वस्तु-विस्तार के साथ नई शैली की स्वस्थ चित्ररेखा 'बेला' में मिलती है। यह कहना तो पिष्ट-पेषण ही होगा कि नई कविता के लिए नई राह निकाले बिना निराला का कोई काव्य-संग्रह नहीं निकला, फिर 'बेला' तो युग-सन्धि की रचना है।

'नये पत्ते' में 'कुकुरमुत्ता' के '४२ वाले संस्करण की सारी रचनाएँ आ गई हैं जिनमें 'खजोहरा', 'रानी और कानी', 'मास्को डायलाग्स' आदि रचनाएँ उत्कृष्ट व्यंग-विनोद के लिए सुप्रसिद्ध हैं। 'देवी सरस्वती' संग्रह की

एक विशिष्ट कला-कृति है। 'कैलाश में शरत्' अवचेतन मन की अद्भुत देन है। 'स्फटिक शिला' अपने चरम-विन्दु के लिए चर्चा में आई है; किन्तु भावना की उठान और आकस्मिक मोड़ के कारण वह रस और मनोविज्ञान की द्वन्द्वात्मक भूमि पर खड़ी अकेली कला-कृति है। शेष रचनाएँ जनवादी काव्य का प्रतिनिधित्व करती हैं।

अध्यात्मवाद और समाजवाद के समन्वय की दिशा में 'अर्चना' निराला का नूतन अभियान है। यहाँ व्यक्ति और अभिव्यक्ति, आदर्श और यथार्थ, वस्तु और रहस्य का सहज मिलन हुआ है। पारिभाषिक शब्दों के साँचे में ढला हुआ मिलन नहीं; पुस्तकीय ज्ञान के मकड़ी-जाल से ढँका हुआ मिलन नहीं, मानवता के विराट् और व्यापक विकास के क्रम में जीवनानुभूतियों का बन्धुभाव से मिलन। ऐसा लहर का लहर से सम्बन्ध-बन्धन जीवन की अगाधता का निदर्शक है।†

---

† विद्वद्वर श्री दामोदर ठाकुर के मर्मस्पर्शी शब्दों में—

"कविताएँ छोटी हैं पर न उनकी बात छोटी है, न उनकी भाषा हल्की है और न उनमें कोई जल्दी है या किसी चीज के छूट जाने का भय मालूम होता है। ये कवि की सामर्थ्य और मर्यादा की कविताएँ हैं।

कुछ भावों को बाँधनेवाला एक भाव कविता में होता है जो कविता के अन्त में प्रकट होता है—कवि उसकी बात नहीं करता, लेकिन खोज उसकी रहती है। कवि अपने भावों से अपनी अवस्था बनाता है। अपनी दशा की उधेड़-बुन में जीवन की जाँच करता है। इस तरह जीवन की कुछ अवस्थाएँ और भाव कवि के अपने हो जाते हैं। जो भाव सबके लिए खुले हैं उन पर अधिकार करने में कवि की शक्ति का परिचय है। जो भाव सबके हैं, उनमें कुछ कोलाहल और जनरव का अंश होता है; किसी सुननेवाले और किसी

एक महाकाव्य को नाना चरित्रों के माध्यम से महा-कवि अपनी भावना-तरंगों का चेतना-समुद्र बनाता है। शताब्दियों की परम्परा से पाठक वैसे समस्त भावावेगों को एकायन करता आ रहा है। मूर्त पात्रों का माध्यम वहाँ एक बार भी अन्तर्विरोध की शंका नहीं उत्पन्न करता। शंका से भी पहले वहाँ समाधान मिलता आ रहा है। इलियड और आडेसी, रामायण और महाभारत--सब में अनुस्यूति है; तारतम्य है, केवल निराला के गीतों में--परिमल से अर्चना तक के स्वरों में संगीतात्मक आरोह-अवरोह की संगति नहीं समझ में आती, इसका कारण गीति-काव्य के पात्रस्थानीय भावों से साक्षात् परिचय का अभाव नहीं तो और क्या हो सकता है।

व्यष्टि निराला लघु-गुरु गीतों की समष्टि नहीं, जीवन की समग्रता के रस-भावों से भरा हुआ महाभारत-सा महाकाव्य है।

जनवरी '५४

सुनानेवाले का भाव होता है; भावना पैदा करने का विचार और प्रयत्न दिखाई देता है।

इन कविताओं के छोटे होने में जीवन के विकास का क्रम है। कभी-कभी मन इतना लीन हो जाता है कि भाषा और भाव दोनों अपने आप में सिमट जाते हैं। एक ओर देखते हैं, एक तरह की दशा में रहते हैं और रागात्मक आन्दोलन इतना सम और सन्तुलित हो जाता है कि जीवन की धारा एकरस बन जाती है, जीवन के अनेक रंग शान्त स्रोत में लीन हो जाते हैं।

—'निराला के कुछ भाव'

आधुनिक कवि पन्त

(१)

रागधर्मता या भावात्मकता हृदय की, और तर्कशीलता बुद्धि की, परम्परा से प्रसिद्धि प्राप्त करती आई है। तब बुद्धि कदाचित् दर्शन एवं विज्ञान के क्षेत्रों तक सीमित समझी जाती थी और काव्य के लिए हृदय ही सर्वस्व था। इतना ही नहीं, तब दर्शन और विज्ञान भी परस्पर पूरक नहीं समझे जाते थे—जब भी दोनों बौद्धिकता के दावेदार थे—क्योंकि दर्शन विचारों को दिशा-निर्देश करता था और विज्ञान वस्तु-परीक्षक था; क्योंकि पहला आध्यात्मिक छोर छूता दिखता था और दूसरा भौतिकता से पूर्णतः आवेष्टित था।

दूसरी ओर, कला को बौद्धिकता से बचाना उसकी स्वाभाविकता की रक्षा करना समझा जाता था, जिस कारण रागात्मकता को ही—जो हृदय का सहज धर्म है—उसकी मूल प्रेरणा के रूप में प्रश्रय मिलता था। अवश्य रागात्मकता के सन्तुलन के लिए विवेक अपेक्षित होता था; किन्तु यह कहना कदाचित् अधिक निरापद होगा कि विविक्त रागात्मकता काव्यकला की सबसे बड़ी पूँजी थी।

राग-विराग हृदय के धर्म हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि वे बुद्धि-विरोधी हैं। वस्तुतः 'बुद्धि' के शब्दार्थ में एक प्रकार के अहंकार का आभास मिलता है; खिंचाव तथा ठहराव का संकेत प्राप्त होता है और राग-विराग

जैसे 'अहं' को ढहा-बहाकर ही चरितार्थ होते हैं। राग-विराग या आकर्षण-विकर्षण इसीलिए भावना-तत्त्व-प्रधान हैं। हृदय भाव-भावनाओं, उमंग-तरङ्गों का ही आस्पद या अधिष्ठान है।

विविक्त रागात्मकता के शाश्वत निदर्शन हैं वेद, रामायण, महाभारत। ऋचाओं की आकृति-प्रकृति-गत अनेकरूपताओं के लिए भाँति-भाँति के तर्क दिए जाते हैं। मेरा मन नहीं मानता कि ऋचाओं की भाषा और भावों के अनेक धरातल इसीलिए हैं कि वे एक समय में या एक हाथ से नहीं लिखी गई हैं, प्रत्युत उनकी अनेकरूपता का कोई और ही कारण है। आदिकवि की काव्यकला के अन्तरङ्ग में प्रविष्ट होने पर इसका स्पष्ट आभास मिलता है। वेद की ऋचाओं के अनेक ऋषि हो सकते हैं; उनकी साधना और उपलब्धि में तारतम्य हो सकता है; भाषा और भाव में अन्तर हो सकता है; किन्तु सम्भावित क्षेपकों को छोड़ देने पर रामायण तो एक ही कवि की कृति प्रतीत होती है जिसकी रचना धारावाहिक रूप में हुई है, फिर भी उसकी अभिव्यक्तियों में एकरूपता क्यों नहीं है? मैं इसका कारण बौद्धिकता का परिहार मानता हूँ।

तनिक-सी सचेष्टता का आग्रह शैलीगत विषमताओं को दूर कर सकता था; भाव-भाषा को एक ही स्तर पर ले आ सकता था, पर तब वाल्मीकि की रामायण और अरविन्द की 'सावित्री' एक ही खान से उत्पन्न हुई दो

बहुमूल्य धातुओं के समान समझी जातीं, जब कि वास्तविकता इसके विपरीत है। जहाँ रामायण में भावनाओं, कल्पनाओं एवं अनुभूतियों का स्वच्छन्द निर्झर-प्रवाह है वहाँ 'सावित्री' में उनका तटबन्धी नियमन, गगनचुम्बी उन्नयन। मैं कहना चाहता हूँ कि वैदिक ऋषियों या वाल्मीकि-व्यास ने अपनी भावनाओं को ठीक उन्हीं रूपों में अभिव्यक्त किया है जिनमें वे उदित हुई हैं; यथासम्भव उन्हीं शब्दों में उन्हें निबद्ध किया है जिनमें वे स्वतःप्रविष्ट हैं। और चूंकि भावनाओं का प्रवाह सदा समतल पर ही नहीं प्रवाहित होता, उसे ऊबड़-खाबड़ पथों को भी पार करना पड़ता है, उनकी शैली में कहीं चिकनाई और कहीं खुरदुरापन ही स्वाभाविक है। स्वतःस्फूर्त भावनाओं से सजातीयता या एकरसता की माँग व्यर्थ है। क्षेत्र उर्वर हो तो वाञ्छित शस्य-सम्पदा के साथ अवाञ्छित तृण भी असम्भावित नहीं। निराला इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

जो बात वाल्मीकि-व्यास के लिए सत्य है, वही सन्त तथा वैष्णव कवियों के लिए भी। कबीर की खाँड़ इसी-लिए खुरखुरी लगती है; सूर की माखन-मिसरी का यही मर्म है। सफल अनुकरण होने पर भी भानुसिंह की पदावली में इसी कारण सायासता सुस्पष्ट प्रतिभासित होती है।

आधुनिक कविता हार्दिक रस की अपेक्षा बौद्धिक सन्तुलन को प्रश्रय देती है। इसकी अनुभूति काल्पनिक और दर्शन वैज्ञानिक है। निराला-पन्त जैसे सन्धि-स्थल पर खड़े युग-बाहें फैलाए हुए कवि मध्य-आधुनिक-युगों

के मिश्र संस्कारों के ही परिणाम हैं। यों भी निराला और पन्त की बौद्धिकता एक ही धरातल की नहीं है।

(२)

आधुनिक हिन्दी-कविता के इतिहास में पन्त की काव्य-प्रतिभा का विकास सर्वाधिक सुस्पष्ट तथा सुव्यवस्थित है। 'वीणा' से 'अतिमा' तक की उपलब्धि में, काव्य के शुभ्र से शुभ्रतर शिखर की ओर उनके क्रमिक आरोहण के पुण्य सोपान प्रत्यक्ष किए जा सकते हैं।

इस बीच सौन्दर्य-चेतना, समाज-चेतना तथा आत्म-चेतना के कितने ही रूप प्रखर से प्रखरतर होते गए हैं; किन्तु प्रकृति और प्रेम अपने अर्थ-गौरव तथा अर्थ-विस्तार के साथ सदा प्रेरणा-केन्द्र बने रहे हैं। इससे यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि पन्त जी जन्मजात कवि हैं। प्रेम का अंकुर किसी भी व्यष्टि में प्रकट होकर विश्व-विटपी के विराट् रूप तक में परिणत हो सकता है और प्रकृति बाह्य आवेष्टन से आन्तर व्याप्ति तक विकसित हो सकती है; पन्त की काव्य-साधना ने इसे भली-भाँति प्रमाणित कर दिया है।

हेमचन्द्र ने लिखा है कि प्रकृति के साथ मानव का मन किस बन्धन में बाँधा हुआ है, समझ में नहीं आता—

हायरे प्रकृतिर सने मानवेर मन
बाँधा आछे कि बन्धने बुझिते ना पारि!

विहारीलाल चक्रवर्ती का प्रकृति-प्रेम और भी निविड़ रूप में व्यक्त हुआ है—

प्रणय करेछि आमि,
प्रकृति रमणी सने,

याहार लावण्यच्छटा
मोहित करेछे मने;
मुख—पूर्ण सुधाकर,
केशजाल जलधर,
अधर पल्लव नव
रञ्जित येन रञ्जने
समुज्ज्वल तारागण
शोभे हीरक भूषण,
श्वेत घन सुवसन
उड़े पड़े समीरणे;
वायुर प्रति हिल्लोले
लतागुलि हेले दोले
कौतुकिनी कुतूहले
नाचे चञ्चल चरणे!

मैंने प्रकृति-सुन्दरी से प्रेम किया है जिसकी लावण्य-च्छटा ने मेरे मन को मोहित कर लिया है।

पूनो का चाँद ही उसका मुखमण्डल है; मेघ घने केश हैं और नव पल्लव राग-रञ्जित अधर। निर्मल तारों का हीरक-हार है; अलंकार-संभार है और उजले-धुले बादल हवा में उड़ते हुए उसके कौशेय वसन।

हवा की हर हिलोर पर ललित लताएँ हिलती-डोलती हैं। अरे, यही तो वह विनोदिनी कुतूहलवश चञ्चल चरणों से नाचा करती है।

अवश्य पन्त का प्रकृति-प्रेम इन दोनों कवियों से अधिक प्रभावोत्पादक है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?

भूल अभी से इस जग को ?
तज कर तरल-तरंगों को
इन्द्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रू-भङ्गों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग-सा मन ?
भूल अभी से इस जग को ?

सौन्दर्य्य-स्रष्टा से जिस निर्लेपता और विवेक की अपेक्षा की जाती है, वह पन्त में पर्य्याप्त मात्रा में है। 'पल्लव' उनकी वचन-रचना का प्रथम प्रतिमान है; उनके रूप-शिल्प, राग-बोध एवं रसानुभूति के सस्मित संकेतों से भरा हुआ तारकित आकाश।

'वीणा' और 'ग्रन्थि' को 'पल्लव' की पूर्वपीठिका कहा जा सकता है। 'वीणा' की 'प्रथम रश्मि' कविता कवीन्द्र रवीन्द्र के 'निर्झरेर स्वप्न-भङ्ग' के समान ही कवि पन्त के महान् भविष्य की सूचक सिद्ध हुई—

तूने ही पहिले बहुदर्शिनि, गाया जागृति का गाना,
श्री-सुख-सौरभ का, नभचारिणि, गूँथ दिया नाना-बाना !

हिन्दी में अन्तर्मुख सुन्दर कविता का प्रथम स्वप्न सर्वश्री भारतीय आत्मा, मुकुटधर पाण्डेय और प्रसाद में से चाहे जिसने देखा हो, पर उसे सबसे पहले साकार निराला-पन्त ने ही किया। इन्हीं के ज्योति के पत्र पर लिखे अमर गान की ध्वनि-प्रतिध्वनियों से कानन के द्रुम-दल पुलके-सिहरे; शीतल-मन्द-सुगन्ध समीरण लहर पर लहर उठाता हुआ बहने लगा; फूलों की होंठों-सी पंखड़ियों में मोती के दाने की तरह हँसी झलमलाई।

कला में जीवन के संक्रमण का क्रम और है। मैं जीवन

को गहराई को वेदना के मापदण्ड से मापने के पक्ष में हूँ। कलाकार की वेदना धर्म के माध्यम से अभिव्यक्त होकर सूर-मीरा की भक्ति कहलाती है; सौन्दर्य के भीतर से प्रकट होकर कालिदास और रवीन्द्रनाथ का शृंगार।

पल्लवकालीन पन्त की वेदना की गहराई उच्छ्वास और आँसू, अनङ्ग और छाया, स्वप्न और बादल, मौन निमन्त्रण और परिवर्तन-जैसी सजल कृतियों में प्रतिबिम्बित हुई है। ऐसी कृतियों की पन्त-साहित्य में प्रचुरता है। किन्तु जहाँ उनकी वेदना पर अभिज्ञता चढ़ आई है वह गालिब से इकबाल हो गये हैं। गालिब दर्देदिल है, इकबाल किसी मर्ज की दवा। कहना न होगा कि कला की दुनिया में दर्द ही पुरअसर होता है।

स्वयं कवि के शब्दों में—'कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है।'

जीवन की सम्पूर्णता के इसी छन्दोमय प्रवाह से अपरिचित कवि काव्य में खण्डित जीवन का प्रचण्ड कोलाहल मचाते हैं; किन्तु अन्विति लोहे के तारों से उठी मीठी झंकार-सी होती है। क्योंकि लोहा पीटना प्रकिया ही है, परिणाम नहीं।

कवीन्द्र की वाणी में—धूप की कामना है अपने को गन्ध में मिला देने की और गन्ध की धूप के साथ मिल

रहने की। स्वर अपने को छन्द में पकड़ाई देना चाहता है, छन्द लौटकर स्वर में भग जाना। भाव रूप के भीतर स्वरूप-प्राप्ति चाहता है, रूप भाव के भीतर छूट। असीम सीमा का गहरा साथ चाहता है, सीमा असीम में खो जाना। प्रलय और सृष्टि में न जाने यह किसकी युक्ति है कि भाव से रूप में अविराम आना-जाना लगा हुआ है। बन्धन अपनी मुक्ति खोजता-फिरता है और मुक्ति बन्धन में बस्ती बसाना।

अन्तर्जगत् के दुहरे सम्बन्ध मन और आत्मा के रूप में हमें प्रेरित और प्रभावित करते हैं। 'पल्लव' मानसी सृष्टि है, इसलिए उसमें स्वप्न-देश का भावावेश है; प्राणों को उलझा लेनेवाले प्रकृति-कल्पना के लता-प्रतान हैं; किन्तु गुंजन में आत्म-चिन्तन, आत्म-मनन की गम्भीर ध्वनि है: मन-मधुकर के पंख डुबोनेवाले आत्ममधु की चेतन सुगन्ध।

जैसे नदी की गति दुहरी होती है, वह अपने दोनों किनारों को चूमती रहती है और अपने को अनुक्षण अनंत (समुद्र) में विसर्जित भी करती रहती है उसी प्रकार मानव-जीवन सीमा में बँधा है और असीम से जुड़ा भी।

आत्मोपलब्धि का ऐसा कल्लोलित कल-कल गुंजन में पुञ्जीभूत हुआ है। अवश्य कवि आत्माराम नहीं, अतः तन और मन के सौंदर्य तथा ऐश्वर्य को अनदेखा कर सकना उसके लिए अशक्य रहा है, फिर भी उसकी तटस्थता आत्मा की परिचित ऊँचाई की है जो फिर-फिर कवि के आत्म-मन्थन का नीरव उद्घोष करती रहती है।

वैराग्य-साधना द्वारा मुक्ति की कामना युग-धर्म की उपेक्षा से ही सम्भव होती और कवि प्रारम्भ से ही प्रबुद्ध रहा है। दूसरे शब्दों में, कवि की जीवनानुभूति में युग का अलक्ष्य रासायनिक योग किस प्रकार होता है, आत्मा के मञ्च से तन-मन के द्वन्द्व के द्रष्टा कवि ने इसे अपनी द्वन्द्वातीत रचनाओं द्वारा प्रत्यक्ष कराया है।

सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा जय-पराजय में समत्व स्थापित कर कवि निर्लेप भाव से युग-मङ्गल के लिए उद्यत होता है—ज्योत्स्ना, युगान्त, युगवाणी तथा ग्राम्या इसी कारण ज्ञान एवं कर्म-कौशल के समन्वय का सन्देश लिए युग-गीता के विभिन्न अध्यायों की भूमिका में अवतीर्ण हैं।

भावना और बुद्धि का मिश्रण तो सर्वत्र है। वीणा, ग्रन्थि, पल्लव और गुञ्जन में प्रथम प्रधान है, ज्योत्स्ना, युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या में द्वितीय। 'ग्राम्या' की हार्दिकता में युगपथ से संचरण की अभ्यस्त बुद्धि के श्रमहीनता-जनित आह्लाद का संकेत है। यह कवि की क्रांतदर्शिता-मात्र से सम्भव नहीं, कल्पना की संग्राहक शक्ति की तीव्रता—चेतन गतिशील लचीलेपन से ही सम्भव है। सौन्दर्य-चेतना के स्तर पर संचरित होनेवाली कवि की प्रतिभा 'पल्लव' सिरजती है और सामाजिक चेतना के धरातल पर वही 'ग्राम्या' की सृष्टि करती है—यह आश्चर्यजनक दो छोरों का अदृष्टपूर्व इन्द्रधनुषी मिलन कवि की असाधारणता, अद्वितीयता का परिचायक तो है ही, उसकी निर्लेप संक्रमण-

शीलता का भी जयघोष है। सत्य, शिव, सुन्दर का समन्वय इसी शिखर पर सम्भव है। ऐसा ही समन्वय गीता, रामचरितमानस आदि में भी है।

मैं समझता हूँ, पन्त जी की मौलिक चेतना सौन्दर्यात्मक ही है—वही गुञ्जन में आत्म-मंगल और ज्योत्स्ना में लोक-मंगल की ओर उन्मुख हुई है। इस सम्बन्ध में कवि की यह उक्ति चिर-स्मरणीय है—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक-सेवा में शिव अविकार।

व्यष्टि और समष्टि, दर्शन और विज्ञान, संश्लेषण और विश्लेषण को अन्विति प्रदान करने की क्षमता सौन्दर्य में ही है। वस्तुतः कला की सीमा में बुद्धि भावना के वेश में प्रवेश करती है; तर्क सुरूप बनकर उपस्थित होता है। यहाँ कारणों का आकलन कम और कार्य्य-सुघरता ही अधिक अपेक्षित है।

(३)

काव्य को अन्यत्र, मैंने रूपोपासना कहा है। कहा है कि काव्य अनुभूति की निर्मलता ही नहीं, उसकी अभिव्यक्ति की रंगीनी भी है; भावना की रसात्मक ऋजुता ही नहीं, प्रकाशन की अलंकृत वक्रता भी है।

छायावादी पन्त की प्रतिनिधि समीक्षा श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखी। प्रगतिवादी कवि पंत को आलोचक शिवदान सिंह चौहान ने ('हंस' में एक विराट् लेख लिखकर) जैसे 'इण्ट्रोड्यूस' किया, जब भी 'रूपाभ' द्वारा वह स्वयं

अपने परिवर्तित स्वरूप को प्रबुद्ध पाठकों में प्रतिष्ठापित कर चुके थे। और 'मनोवैज्ञानिक अध्यात्मवादी' पन्त पर श्री इलाचन्द्र जोशी ने सबसे सुन्दर लिखा—'पन्त जी की स्वर्णचेतना।' इधर वाद-विवाद की भाषा में लिखनेवालों ने सबसे अधिक पन्तजी पर ही लिखा है—अवश्य परस्पर-प्रशंसिता को 'बाक्स-आफिस-हिट' बनानेवाले प्रयोगवादियों की बात यहाँ नहीं कही जा रही—किन्तु यह एक निर्मम सत्य है कि कवि पन्त पर स्वयं पन्त जी से अच्छा किसी ने नहीं लिखा। पल्लव के 'प्रवेश' और आधुनिक कवि के 'पर्य्यालोचन' के समान अपनी कला के बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग का ऐसा सन्तुलित विवेचन किसी भी समकालीन कलाकार द्वारा नहीं प्रस्तुत हुआ। यह पन्तजी की आत्मज्ञता का चूड़ान्त निदर्शन है।

किन्तु, यहीं यह भी दिखता है कि उनकी आत्मज्ञता आलोचकों की कोरी वस्तु-विवृति से कितनी विभिन्न है। पूर्व-पश्चिम के काव्य-सम्बन्धी मत-मतान्तरों एवं समीक्षा-सम्बन्धी विधानों, प्रत्ययों तथा कल्पों का ज्ञान एक बात है और काव्य की तत्त्वज्ञता दूसरी। यहाँ उनकी आत्म-समीक्षा को कालरिज की Biographia Literaria की समकक्षता प्रदान करना उद्दिष्ट न होने पर भी यह निष्कर्ष अवश्य इष्ट है कि पन्त जी भाव-शिल्पी तथा रूप-शिल्पी के साथ-साथ उसी कोटि के विचार-शिल्पी भी हैं। उन्हीं के सुरीले शब्दों में वह सिन्धु की अनन्तता समोए हुए विन्दु हैं; संगीत का समस्त ऐश्वर्य समेटे हुए स्वर-विशेष

हैं और मधुमास को अशेष श्री-सुरभि आत्मसात् किए हुए मुकुल हैं।

भावों को स्वरित करनेवाले उनके सुललित शब्दों को 'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः' समझकर यह कहने की इच्छा होती है कि पन्त जी भाव-संगीत के शब्दलिपिकार हैं। और, यह शब्दलिपि प्रयोगवादियों के यान्त्रिक शब्द-शिल्प से सर्वथा भिन्न है।

कनक छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार
सुरभिपीड़ित मधुपों के बाल
तड़प बन जाते हैं गुंजार;
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन!

यही 'वागर्थ' का सम्पर्क है; साहित्य है। यहाँ स्वर और वर्ण परस्पर बट-से गए हैं। भावलोक की ओर स्वर-सरिता में यह शब्द-सन्तरण कितना मधुर है और यह मधुरिमा कैसी कसक-भरी है!

कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता, सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है!

सजल अनुभूति में कल्पना की रंगीनी घुलती-रचती रहती है, जभी गहरे, धुंधले, धुले, साँवले मेघों-से नयनों में वेदना की बिजली यों कौधती है—

धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल;

आज सोने का सन्ध्याकाल
जल रहा जतुगृह-सा विकराल !

अमूर्त भावों को तुङ्ग-खर्व प्रतिमानों, प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त करना पन्त जी की जीवन्त अभिव्यक्ति की एक प्रमुख शैली है। उनकी कल्पना आकाशबेल नहीं, अवनी-रुह होकर भी अपने उच्छ्राय सौन्दर्य्य-गुणों से ही गगन-विहारिणी दिखती है—

गिरिवर के उर से उठ-उठ कर
उच्चाकाङ्क्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर !
× × ×
अचल के जब वे विमल विचार
अवनि से उठ-उठकर ऊपर
विपुल व्यापकता में अविकार
लीन हो जाते थे सत्वर,
विहङ्गम-सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अम्बर !
× × ×
धीरे-धीरे संशय से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशि भोर।

सच तो यह कि उनकी कल्पना चाँदनी की झीनी ओट ले नभ के स्नेह-श्रवण में दिशाओं के गोपन-संभाषण का संकेत करती है; वासन्ती बनकर पल्लव-पल्लव में नवल रुधिर संचारित करती, पत्र-पत्र में मांसल रंग खिलाती तथा नीली-पीली लौवाले फूलों के दिये जलाती है।

युग के वादों के वात्याचक्र में, गर्म-गर्म विचारों के झंझार के झोंकों में सर्-सर्, मर्-मर् रेशम के-से स्वर भरते, लम्बे, पतले, चंचल दल भीत, पीत, कृश निर्बल हो पल-पल झर-झर पड़ते हैं, प्रकृति का यह आपद्धर्म तो नहीं ? कल्पना की हँसमुख कल्पलता ऋतु-शृंगार बदलने के क्रम में रात के पहने हरसिंगार के गहने उतार सबेरे-सबेरे टटके खिले, रंग-विरंगे फूलों से सजे, यही स्वाभाविक है।

स्वयं पन्त जी या उनके समकालीन समीक्षक विकासशील चेतना की विविधता को गतिशील या अस्थिर प्रमाणित करें, किन्तु प्रगतिवाद छायावाद को अथवा प्रयोगवाद प्रगतिवाद को पीछे छोड़ने का दावा करता हुआ यह कहता दिखता है कि सौन्दर्य-सुरसरि के तट पर ऐसा शास्त्रार्थ, युग की बदलती हुई माँगों के अनुसार, मूल्य निर्धारित करने का एक कोलाहलपूर्ण तात्कालिक प्रयासमात्र है, इससे कला की बहुमूल्यता भर सिद्ध होती है। मैं समझता हूँ, कला के मूल्यांकन में सौन्दर्य की दृष्टि और दृष्टि का सौन्दर्य दोनों अपेक्षित हैं। विभिन्न काव्य-युगों के निर्माता के रूप में कवि पन्त का ऐतिहासिक महत्त्व होगा, किन्तु अपनी अपरूप सौन्दर्य-सृष्टि के कारण पन्त की कला शत-मुख-मुखर रहेगी।

तोमार सौन्दर्ये होक मानव सुन्दर प्रेमे तव विश्व होक आलो ;
तोमारे हेरिया येन मुगुध अन्तर मानुषे मानुष बासे भालो !

—रवीन्द्रनाथ

———

सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

काव्य-कला का कदाचित् सर्वश्रेष्ठ मान-दण्ड 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' ही है। यों तो कला मात्र की सारी बारीकी इन्हीं सात अक्षरों से पूरी तरह पकड़ में आ जाती है, किन्तु काव्य-कला में इनकी उपयोगिता और साफ उतरती है। मैं समझता हूँ, इस कसौटी पर शुद्ध सोना ही चमक सकता है और अन्यान्य धातुएँ बाजार में अपनी कीमत पर इतराकर भी, व्यवहार में जादू की तरह सर चढ़कर बोलने पर भी इससे आँख बचाने में ही अपनी प्रतिष्ठा का बचाव समझती हैं। कभी वे आग-बबूला होकर इसके फिसड्डीपन पर 'बेसुरा' बजती हैं और कभी अकिंचनों का पक्ष लेकर अपनी व्यापक उपयोगिता का इजहार जाहिर करती हैं कि—

अकाञ्चनेऽकिञ्चननायिकाङ्गके
किमारकूटाभरणेन न श्रियः ?

सोने के सपने भी न देख सकनेवाली गरीब औरतें क्या अपने अंगों को पीतल के गहनों से सजाने से बाज आती हैं ? या ऐसा करने पर उनके अंग सचमुच ही सोने की-सी चमक-दमक से नहीं तरङ्गित हो जाते ?

कहने का प्रयोजन यह है कि रो-गाकर वे इस मान-दण्ड को मानने से इनकार कर देती हैं, किन्तु मोम की पुतलियाँ आग के पास से भागने में ही अपनी कुशल समझती हैं।

मैंने देखा है, इस कसौटी की अच्छाई-बुराई की अपेक्षा भी इसके कुल-शील या जात-पाँत की ही अच्छी जाँच-पड़ताल हुई है। देशभक्त आलोचकों को इसका विदेशीपन बुरा लगा है और विश्व-बन्धुत्व की भावना को प्रश्रय देनवाले इसके बंगालीपन से ऊब उठे हैं।* किन्तु मैं इसे 'सत्, चित्, आनन्द' का पर्य्याय समझनेवालों में से हूँ और उसी भाँति इसकी व्यापकता को पूजता हूँ। मेरे हिसाब-किताब का यही आखिरी ब्योरा है कि कला का सर्वोत्तम मानदण्ड 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' ही है।

इसकी व्याख्या भी, अन्यान्य सूक्तियों की ही भाँति, विभिन्न प्रकार की पाई जाती है। मैं केवल 'सत्यम्' का अर्थ अपने ढंग से समझता हूँ। अर्थात् प्राकृत सत्य की अपेक्षा वह मुझे आध्यात्मिक सत्य या आप्त-वचन की ओर संकेत करता मालूम पड़ता है। दूसरे शब्दों में वह मुझे विज्ञान का नहीं, ज्ञान का प्रतीक प्रतीत होता है।

---

* कहते हैं 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' आपाततः औपनिषद वाक्य सा प्रतीत होता है, किन्तु इसके प्रथम प्रवर्तक राजा राममोहन राय हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी नहीं, क्योंकि प्रवर्तित ब्राह्म समाज के साहित्य में राजा राममोहन राय इसका प्रथम प्रयोग कर चुके थे। अवश्य महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इसे अपनी प्रार्थना में सम्मिलित कर, सिद्धान्त-वाक्य बना लिया था। यह कुछ दिनों तक ब्राह्म-समाज एवं ठाकुर-परिवार तक ही सीमित रहा, किन्तु अब तो प्रत्येक भारतीय साहित्य द्वारा समादृत मानदण्ड है।

कहते हैं, अँगरेजी साहित्य के (The truth, the good, the beautiful) का शाब्दिक अनुवाद कर 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' को सत्, चित् आनन्द के समान राजा राममोहन राय ने प्रतिष्ठित करना चाहा था।

साधारणतया इस कसौटी का आशय यह है कि कला में सचाई, विश्व-कल्याण की कामना और सुन्दरता एक साथ ही अपेक्षित हैं। प्रकृति में जो घृणित और कुरूप है, सत्य होने पर भी आदर्श कला की सृष्टि में वह अवांछनीय होना चाहिए। उसी प्रकार जितनी सुन्दरता है, वह सब कला के लिए आवश्यक या उपयोगी नहीं है। उसमें भी काट छाँट जरूरी है। उसके ग्राह्य-त्याज्य अंश का बोध 'शिवम्' के आधार पर होना चाहिए। अर्थात् कला—महत्-कला में सत्य एवं सौन्दर्य 'शिवं' से परीक्षित होकर ही निखरते हैं; निखार से पहले उनके खरेपन की जाँच जरूरी है।

कोई कहे कि यह कसौटी बड़ी संकुचित है, इससे नियन्त्रित हो जाने पर कला की स्वरूप-योग्यता का पता ही नहीं लग सकता। वह तो एक खास साँचे में ढली हुई, खास तरह की चीज हो जायगी तो इसका उत्तर मैं दो प्रकार से दूँगा। एक तो 'विश्व' से व्यापक कौन-सी भावना हो सकती है, जिससे विश्व-कल्याण की कामना करनेवाली कला की कसौटी छोटी या खोटी हो सकती है? दूसरे, इस श्रेणी की कला-कृति की एक विशेष जाति होनी चाहिए। ईश्वर भी आकृति ग्रहण कर अपने को लोक-कल्याण के उपयुक्त बनाना चाहता है। इतना ही नहीं, निराकार रहकर भी विश्व-कल्याण में ही वह अपने को चरितार्थ समझता है। विश्व-कल्याण से बड़ी कोई व्यावहारिक बात हो ही नहीं सकती। रही कला की सजातीयता

या एक-रसता। यह तो बड़ी अच्छी बात है। चाँद रोज उगने पर भी कभी पुराना नहीं पड़ता; उषा का अरुण-उल्लास किसी दिन भी फीका नहीं मालूम पड़ता। यह क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है, फिर भी यदि एक-रस नहीं प्रतीत होता तो आदर्श कला ही क्योंकर एकरस प्रतीत होने लगी? कवि के शब्दों में वहाँ भी तो यह कहने की गुंजायश है कि—

'जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल।'

चाँद की एकरस शीतल उज्ज्वलता से मन चाहे रीझे, चाहे खीझे मगर इसीलिए चाँद न तो तवे की तरह तप सकता है और न कोयले की तरह काला पड़ सकता है, ठीक उसी प्रकार आदर्श कला अपने आदर्श से च्युत न होकर भी जन-मन के अनुरंजन की क्षमता, नित्य नवीनता बनाये रह सकती है। यहीं कलाकार की महत्ता देखी जाती है कि वह किस प्रकार हमें उसके प्रति तीव्र उत्सुक एवं अतिशय आग्रही बनाए रखता है। वस्तुतः उस महत्ता का उत्तर-दायित्व उसकी सतेज, तीव्र अनुभूतियों पर ही निर्भर करता है। क्योंकि वैज्ञानिक तथ्य आवृत्तियों से घिस-घिसा जा सकते हैं; सधी नीति-नियम की बातें सुनते-सुनते उबकाई-सी आने लग सकती है, किन्तु अनुभूतियाँ सूखी पंखड़ियों को भी सरसब्ज और तरोताजा बना लेती हैं; कोई भी मृत विषय वह अमृत पीकर जी जाता, लहराने लगता है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने कितना सुन्दर कहा है—

Bare information on facts is not literature because it gives us merely the facts which are independent of ourselves. Repetition of the facts that the Sun is round, water is liquied, fire is hot, would be intolerable; but a description of the beauty of the sunrise has its internal interest for us—because there, it is not the fact of the sunrise, but its relation to ourselves, which is the object of perennial interest.

यही कारण है कि 'चश्म पुरआब है औ' तिस पर जिगर जलता है; क्या कयामत है कि बरसात में घर जलता है ?' की उक्ति के अनुसार पावस मास में विरह-ज्वाला के धधक उठने की बात परम्परा-भुक्त होने पर भी विद्यापति की राधा जब अपनी अनुभूतियों से भर कर बरस पड़ती हैं कि—

'सखि हे, हमर दुखक नहीं ओर
इ भर बादर; माह भादर सून मन्दिर मोर।'

तो 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'। कैसा भी पत्थर-दिल पिघलकर पानी-पानी हो जाता है। अनुभूति-प्रयुक्त भाव-तीव्रता विषय के पुरानेपन की ओर आँखों की कोर चुभोने ही नहीं देती।

तो, मैंने यही कहा कि विविधता लाने के खयाल से ख्वाहमख्वाह कला के आदर्श का खून नहीं किया जा सकता। जातीय विशेषता संकोच का नहीं, विस्तार का द्योतक होती है। कश्मीरियों की स्वर्गीय सुषमा उनका दोष नहीं, गुण है। उसी प्रकार 'महत् रचना' का सत्य, शिव, सुन्दर होना उसकी जातीय विशेषता ही है।

'सत्यम्' और 'सुन्दरम्' के बीच में 'शिवम्' को रखकर मानदण्ड के कल्पक ने बड़ी ही दूरदर्शिता दिखलाई है। सत्य और सुन्दर जैसे दो छोर हैं जिन्हें 'शिव' ही सन्तुलित करके रखता है। 'सत्य' जैसे अपनी प्रकृति से ही निर्मम और कठोर है, दूसरी ओर 'सुन्दर' अपने नाम और रूप से भी मोहक, उन्मादक। केवल निर्ममता रूक्ष होने के कारण उपेक्षित हो सकती है और केवल मोहकता अपनी चिपचिपाहट से प्रगति की पाँखें उलझा रखनेवाली। फलतः दोनों का संतुलन शिव को बीच में ले आने से अनायास हो जाता है और जीवन में दोनों समान रूप से उपयोगी हो जाते हैं। 'सत्यम् ब्रूयात्, प्रियम् ब्रूयात्' का यही अर्थ है। इसमें 'सत्य' के साथ 'प्रियं' (सुन्दर) जोड़कर उसे 'शिव' बनाने—लोकोपयोगी बनाने की ही सीख दी गई है।

अस्तु, जैसा कि ऊपर बताया गया है, यह 'सत्य' बड़ा ही दुरूह है। तर्क-बुद्धि ने विभिन्न प्रकार से व्याख्या कर इसे जटिलतर कर दिया है, यद्यपि अपने आप में यह अत्यन्त निर्दोष है। प्रसाद जी के शब्दों में—

"और सत्य! यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीड़ा-पञ्जर का
पाला हुआ सुआ है।
सब बातों में खोज तुम्हारी,
रट-सी लगी हुई है;
किन्तु स्पर्श से तर्क-करों के
बनता छुई मुई है!"

इसलिए वैज्ञानिक सत्यवाली बात अधिक प्रचलित होने पर भी मैं 'सत्य' का अर्थ निर्मम किंवा चरम सत्य ही समझता हूँ। मेरे विचार से निर्मम सत्य भी कला के पक्ष में विशेष उपयोगी नहीं। पुत्र की मृत्यु के पश्चात् माता का करुण-क्रन्दन कला नहीं है। दूसरी ओर रङ्ग-मंच पर उसका सफल अभिनय निर्मम सत्य भी नहीं है। हाँ, अभिनय की वह तन्मयता जिससे सत्य और कला में तादात्म्य उपस्थित हो जाता है, कला-सृष्टि का उपयोगी सत्य है।

यहाँ मैं 'उपयोगी' सत्य का प्रयोग उपयोगितावाद के सस्ते अर्थ में नहीं कर रहा। मेरा अभिप्राय उसकी बहुमूल्यता से ही है, जिस कारण वह परम-प्रिय बन जाता है।

सत्य का अर्थ मैंने 'आप्तवचन' भी बताया है। भगवान् पतंजलि ने 'आप्त' की व्याख्या इस प्रकार की है—

'आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कात्स्न्येन
निश्चयवान, रागादिवशादपि नान्यथावादी यः सः।'

अर्थात् उस प्रामाणिक व्यक्ति को आप्त कहा जाता है जो अपने अनुभव से (अपरोक्ष का साक्षात्कार कर) वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रत्येक प्रकार से निश्चय रखनेवाला हो, कैसे भी राग-द्वेष में पड़कर उल्टी-सीधी बात न कर सकता हो! अर्थात् जो पंजाब के चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उदयशंकर भट्ट आदि को पंजाब का लेखक या कवि कहे विना बिहार के राधाकृष्ण, वियोगी आदि

को 'बिहार के कथाकार या कवि कहने की भूल न करता हो ; हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रान्तीय सीमाएँ बाँधने का वैध अधिकार न रखता हो। ऐसे व्यक्ति की उक्ति 'सत्य' कही जा सकती है। विषय-वस्तु के अनुसार इसके भी (स्थूल और सूक्ष्म) दो प्रकार हो सकते हैं। स्थूल का वैज्ञानिक सत्य में अन्तर्भाव हो सकता है और सूक्ष्म का आध्यात्मिक सत्य में, इसलिए इन पर पृथक् टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।

(२)

वैसे तो किसी भी 'महत्' रचना में पूर्वोक्त तीनों तत्त्व (सत्यं, शिवं, सुन्दरम्) रहते ही हैं, किन्तु सर्वत्र सबकी प्रधानता सम्भव नहीं है। प्रधान तो कोई एक ही होगा। यही कारण है कि प्राचीन साहित्य में वेद-उपनिषद् आदि सत्य-प्रधान हैं, रामायण-महाभारत आदि शिव-तत्त्व-प्रधान और कवि-कुल-गुरु कालिदास की रचनाएँ सौन्दर्य-प्रधान। होमर-दाँते की रचनाएँ सत्य-प्रधान हैं, शेक्सपियर-मिल्टन की शिव-तत्त्व-प्रधान और शेली-कीट्स-बायरन की सौन्दर्य-प्रधान। कबीर की रचनाएँ सत्य-प्रधान हैं, तुलसीदास की शिव-तत्त्व-प्रधान और सूर-मीरा-विद्यापति आदि की सौन्दर्य-प्रधान।

हिन्दी के नवीन साहित्य में यद्यपि सौन्दर्य-सृष्टि का ही अधिक ध्यान रखा गया है, किन्तु कवियों की वैयक्तिक अनुभूतियों के कारण विभिन्नता आ ही गई है। तदनुसार

रवीन्द्रनाथ की व्यंजना-शैली से प्रभावित होकर भी नए कवियों के भाव एक-एक तत्त्व का पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व करते-से मालूम पड़ते हैं।

निराला जी कबीर की परम्परा में आते हैं अर्थात् सत्य-प्रधान हैं, प्रसाद जी और महादेवी जी शिव-तत्त्व-प्रधान हैं और पन्त जी सौन्दर्य-प्रधान।

ज्ञानी कबीर कहते हैं—

"साधो एक आपु जग माहीं।
दृजा करम भरम है कृत्रिम
ज्यों दर्पण में छाहीं।
जल तरंग जिमि जलतें उपजै,
फिर जल माहिं रहाई।
काया झाँई पाँच तत्व की
बिनसे कहाँ समाई।"

और द्रष्टा कवि निराला पूरे विश्वास के साथ अपना विश्व-दर्शन यों प्रकट करते ह—

"जग का एक देखा तार
कण्ठ अगणित, देह सप्तक, मधुर स्वर-झंकार
बहु सुमन, बहु-रंग-निर्मित एक सुन्दर हार,
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा-भार।
जग का एक देखा तार।"

इसी प्रकार कबीर का एक और पद है—

'साधो, एक रूप सब माहीं
अपने मनहिं विचारिके देखो और दूसरो नाहीं।'

निराला जी ने भी 'प्रतिपल तुम ढाल रहे सुधा-मधुर ज्योतिधार' वाले अपने सुप्रसिद्ध पद में लिखा है—

जीवन की विजय, सब पराजय,
चिर-अतीत आशा, सुख, सब भय,
सब में तुम, तुम में सब तन्मय,
कर-स्पर्श-रहित और क्या है ? अपलक-असार !'

निश्चय ही सन्त कबीर की वाणी में कवि के भाव-गीतों की अपेक्षा अधिक ऋजुता पाई जाती है, किन्तु मैं तो यहाँ उनके सत्य (परमार्थ) मात्र पर एक दृष्टि डाल रहा हूँ। अभिव्यक्ति तो अन्ततः अभिव्यक्ति ही है, तात्त्विक-दृष्टि से दोनों की भावधारा दर्शनीय है।

कबीर ने 'देखो' कह कर अपने परम अनुभव बड़ी ही दृढ़ता और निष्ठा से प्रकट किए हैं, मैंने देखा, निराला जी ने भी अपने गहन चिन्तन उसी सुदृढ़ अनुभूति के साथ, ठीक उसी स्तर से प्रकाशित किये हैं। कबीर कहते हैं—

'तन धर सुखिया कोई न देखा
जो देखा सो दुखिया हो !'

इधर निराला जी ने भी कहा है—

'देख चुका, जो-जो आये थे, चले गए !
मेरे प्रिय, सब बुरे गये, सब भले गए।'

कबीर कहते हैं—

'जोगी दुखिया जंगम दुखिया
तपसी को दुख दूना हो,
आशा तृस्ना सब को ब्यापै
कोई महल न सूना हो !'

और निर्द्वन्द्व निराला कहते हैं—

'चिन्ताएँ, बाधाएँ,
आती ही हैं, आएँ,
अन्ध हृदय है, बन्धन निर्दय लाएँ;
मैं ही क्या? सब तो ऐसे ही हूले गए!
मेरे प्रिय सब छले गए, सब भले गए!!

ऊपर उद्धृत 'जग का एक देखा तार'—वाले गीत में भी ऐसा ही स्वर सुनाई पड़ता है। 'बेला' की गजलों में कबीर के-से 'सत्य' उद्भासित करनेवाले बहुत से पद (शेर) हैं।

'अमृत के घूँट वे
दुनिया ने जो पिए,
टूटी भेद की दीवार
देखता चला गया!'

× × ×

उठी निगाह कि कहाँ से
कहाँ हुए हम भी,
दिखा कि ज्योति की छाया
में ह्रास बजता था!

× × ×

प्रसाद जी शिव-तत्त्व-प्रधान हैं, यह पहले कहा जा चुका है। शिव—लोक-मंगल—का पक्ष समर्थित करनेवाला समन्वयवादी होता है। वह 'इदं' को 'अहं' से अन्वित कर लेता है। उसके हृदय-सिन्धु में लघु-लघु लहर 'करुणा की नव अँगड़ाई-सी' उठती है; उसकी आँखें 'करुणा-

कादिम्बिनी' बन कर बरसती हैं। वह अग जग के ओर छोर तक अपनी उदार सहृदयता फैलाना चाहता है—

'तुम हो कौन, और मैं क्या हूँ,
इसमें क्या है धरा सुनो,
मानस—जलधि रहे चिर-चुम्बित,
मेरे क्षितिज उदार बनो!

सुख-दुख, आशा-निराशा की द्वन्द्वात्मकता उसे दबा नहीं पाती, वह वहाँ भी एक अपूर्व समन्वय देखता है—

मानव - जीवन - वेदी पर
परिणय है विरह-मिलन का;
सुख - दुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का, मन का।'

× × ×

चेतना - लहर न उठेगी
जीवन - समुद्र थिर होगा,
सन्ध्या हो सर्ग - प्रलय की
विच्छेद-मिलन फिर होगा

'काम', अदूरदर्शी लोग जिसे अकारण ही बदनाम किये हुए हैं, उसकी दृष्टि में मंगल-मय श्रेय और सृष्टि की इच्छा का परिणाम है। वह बड़ी ही सहृदयता के साथ याद दिलाता है—

'जिसे तुम समझते हो अभिशाप,
जगत् की ज्वालाओं का मूल;
ईश का यह रहस्य वरदान
कभी मत जाओ इसको भूल!'

और जिस नारी को भोग-वासना का यन्त्र मात्र समझने की भूल की जाती है, उसे वह मानव-जीवन के समतल पर बहनेवाली अमृतमयी सुरसरिता समझता है—

'नारी, तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास-रजत-नग-पदतल में
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो—
जीवन के सुन्दर समतल में!'

वह नास्तिक तो क्या, श्रद्धावान् होता है, ईश्वरत्व—परम आनन्द—के प्रति मन-प्राणों से उत्सुकता-उन्मुखता दिखलाता है, किन्तु लोक-कल्याण की उदात्त कामना के कारण वह यह कहना नहीं भूल सकता है कि—'विजयिनी मानवता हो जाय!'

× × ×

पन्त जी 'सुन्दरम्' के कवि हैं। कीट्स और ब्राउनिंग की भाँति वह भी कह गए हैं—

'अकेली सुन्दरता कल्याणि,
सकल ऐश्वर्यों का सन्धान।'

और सचमुच ही 'कहाँ है सुन्दरता का पार!' सोचनेवाला कवि—

'सुन्दर, शिव, सत्य कला के कल्पित माप-मान
बन गये स्थूल, जन-जीवन से हो एक प्राण।'

कहने अवश्य लगा है, किन्तु आज भी वह 'असुन्दर को सुन्दर' बनाने की ही चेष्टा में है। वस्तुतः पन्त जी की कविता का प्राण सौन्दर्य ही है, प्रयत्न करने पर भी वह उससे परे नहीं हो सकते। जब वह गाँव की ओर नजर डालते हैं, तब यही दिखाई पड़ता है कि—

'फैली खेतों में दूर तलक
मखमल की कोमल हरियाली,
लिपटीं जिससे रवि की किरणें
चाँदी की-सी उजली जाली;

× × ×

मरकत डिब्बे-सा खुला ग्राम
जिस पर नीलम नभ आच्छादन,—
निरुपम हिमान्त में स्निग्ध शान्त
निज शोभा से हरता जन-मन।'

उनका यह परवर्ती वर्णन 'नौका-विहार' की सुन्दर पंक्तियों से सम्पूर्ण समता रखता है—

'सिकता की सस्मित सीपी पर
मोती की ज्योत्स्ना रही विचर'
'गोरे अङ्गों पर सिहर-सिहर
लहराता - ताल - तरल सुन्दर
चंचल अञ्चल-सा नीलाम्बर।'

अस्तु, जब वह मानव-मन की जाँच-पड़ताल करते हैं, स्तर उभार-उभार कर उसकी निधि, उसका संचय देखना चाहते हैं तब भी 'जग के छवि-उपवन' के ही फूलों पर उनकी आँख अटकती है। वह वायु को भी 'निखिल छवि की छवि' कहकर सम्बोधित करते हैं। 'भारतमाता' 'राहु-ग्रसित शरदेन्दुहासिनी' दीख पड़ती है। फाल्गुन का सूनापन अनन्त सौन्दर्य-शिखाओं में सुलगता है।

इतना ही नहीं, 'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया, बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?' कहकर प्राकृतिक सुविस्तृत श्री की अर्चा के लिए बाला के बाल-जाल से बच निकलनेवाले कवि का

मन सब ओर से सिमट कर जब 'मानव' से आ मिलता है, तब इस नए आकर्षण में भी, सौन्दर्य ही प्रधान हेतु बन बैठता है ! वह कहते हैं—

'सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर,
मानव, तुम सब से सुन्दर-तम !'

इसमें संदेह नहीं कि मानव के प्रति यह अतिशय स्नेह अनोखा है तुलनात्मक दृष्टि से, प्रकृति की मोहिनी से मानवीय सौंदर्य की ओर आकृष्ट होना कवि का बौद्धिक परिवर्त्तन भी प्रकट करता है; किन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि कवि-हृदय आज भी सौन्दर्य्य-प्रिय है; सौन्दर्य्य के माध्यम से ही उनकी काव्य-चेतना को सही-सही परखा जा सकता है।

(३)

श्रौत और स्मार्त प्रणालियों में जैसा अन्तर है, या गार्हस्थ्य और संन्यास में जैसा विभेद है; सत्य और शिव में भी वह वैसा ही है। जैसे एक शुद्ध ज्ञान है दूसरा शुद्ध कर्म। मुक्ति दोनों के द्वारा सम्भव है, पथ मात्र में पृथक्त्व प्रतीत होता है केवल। किन्तु 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' मानने-वाले वेदांती कर्म को चित्त-शुद्धि का उपाय मात्र मानते हैं। चित्त-शुद्धि के अनन्तर ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। इसलिए कर्म और ज्ञान, उपाय तथा उपेय होकर समन्वित-में हो गए हैं।

और सुन्दर? वह भक्ति या प्रेमस्थानीय है। भक्तगण कर्म और ज्ञान का कायल नहीं होता। यद्यपि

आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी,—इस वर्गीकरण के अनुसार 'तेषां ज्ञानी नित्य-युक्तः एकभक्तिर्विशिष्यते' कहा गया है; किन्तु भक्तगण भक्ति की ही भिक्षा माँगता है, उन्हें मुक्ति नहीं भाती। 'विनय-पत्रिका' के प्रारम्भिक पदों में सभी देव-देवियों से भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी राम-भक्ति की ही याञ्चा करते हैं, मुक्ति या निर्वाण की नहीं। मैं समझता हूँ, पूर्वोक्त प्रकार से सौन्दर्य-प्रधान कवियों की भी चार श्रेणियाँ हो सकती हैं, और चौथा सर्वश्रेष्ठ होकर भी यही कह सकता है कि—

Beauty is truth, Truth Beauty
That is all ye know, and all ye
need to know

पहले यह कहा जा चुका है कि मेरी यह व्याख्या कवियों के एक विशिष्ट दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही कल्पित हुई है। जिन तीन कवियों पर सविशेष प्रकाश डाला गया है, उनमें भी कहीं न कहीं तीनों गुण पाए जाते हैं, किन्तु मैंने 'प्रधान' को ही यहाँ चुना है।

जहाँ इन तीनों—प्रेम, कर्म और ज्ञान का सङ्गम हो, वहाँ 'महत्ता' की सविस्तर चर्चा ही व्यर्थ है। मेरे विचार से रवीन्द्रनाथ वैसे ही महान् हैं, सत्य, शिव और सुन्दर, यह त्रितत्त्व उन महामहिम में अपने पूर्ण विभव के साथ सामंजस्य पा गया है।

जनवरी '४४

———